आर्ष-चिन्तन के विकल्प

रामचन्द्र सरोज

हिन्दी साहित्य के प्रमुख रचनाकारों में रामचन्द्र सरोज की अपनी अलग पहचान है। उन्होंने साहित्य की प्राय: सभी विधाओं में लिखा है। उनके चिन्तन में किसी प्रकार का दबाव नहीं है। वे सभी पूर्वाग्रहों से, चाहे वे कितने ही प्रभावशाली क्यों न हों, मुक्त-मन होकर सोचते हैं और उसी को महत्व देते हैं जो मानवतावादी सिद्धान्तों के अनुकूल हों।

रामचन्द्र सरोज के निबन्धों के क्षेत्र में प्रवेश करते ही, हम ऐसे संसार में पहुँच जाते हैं जहाँ हमारी परम्पराओं, पूर्वाग्रहों एवं धारणाओं की बहुत-सी इमारतें, जो बाहर से भव्य और आकर्षक दिखाई देती हैं, अन्दर से खोखली प्रतीत होने लगती हैं। हम खोखले आदर्शों से मुक्त होकर यथार्थ का साक्षात्कार करने को बाध्य हो जाते हैं। सब मिलाकर सत्य के प्रति निष्ठा, शोधपरक दृष्टि, मानवतावादी चिन्तन तथा शैली का सजीव आकर्षण सरोज जी के निबन्धों की विशेषता है। इन निबन्धों में बुद्धि के साथ-साथ भावना का सरस प्रवाह भी विद्यमान है। गम्भीर प्रकृति के होते हुए भी, ये निबन्ध अपनी शैली के आकर्षण के कारण ऊबाऊ कदापि प्रतीत नहीं होते।

प्रकाशक

आर्ष चिन्तन के विकल्प

आर्ष चिन्तन के विकल्प

(संस्कृति, धर्म, अध्यात्म तथा साहित्य के मूल प्रश्नों पर लिखे गए लेखों का संकलन)

लेखक
रामचन्द्र सरोज

राका प्रकाशन
इलाहाबाद

ISBN 01-00216-01-1

प्रथम संस्करण : २००१ ई०

प्रकाशक : **राका प्रकाशन**
४०ए, मोतीलाल नेहरू रोड
इलाहाबाद - २, दूरभाष : ४६६७९१

मूल्य : एक सौ पचास रुपये मात्र

मुद्रक : भार्गव आफसेट
बाई का बाग, इलाहाबाद

काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न पूज्य पितृव्य
श्री महावीर प्रसाद कायस्थ (१८६९-१९२३)
के पावन स्मरण को—

जिनकी हस्तलिखित पोथियों से मुझे
साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त होने की
प्रेरणा मिली।

प्राक्कथन

'आर्ष चिन्तन के विकल्प' में जो लेख संग्रहीत है वे जीवन-जगत के प्रति भारतीय चिन्तन की सही पहचान कराने में भी समर्थ हो सकते हैं। इनमें अधिकांश ऐसे विषय हैं जिनके विवेचन में, अभी तक लेखकों के अपने-अपने पूर्वाग्रह इतने प्रत्यक्ष हैं कि वास्तविकता सामने नहीं आ पाती। मैंने, एक जिज्ञासु अध्येता की तरह ही, इन विषयों को समझने के लिए अपनी दृष्टि को यथासंभव संतुलित और पूर्वाग्रह-मुक्त रखने की पूरी कोशिश की है।

इस संग्रह में 'आत्मा की विप्रतिपत्तियाँ— आत्मवादी और अनात्मवादी चिन्तन की भूमिका' तथा 'भरत मुनि, नाट्यशास्त्र और नाट्यकला का प्रवर्तन' को छोड़कर, शेष सभी लेख हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं के माध्यम से पाठक-समुदाय का साक्षात्कार कर चुके है। स्वतंत्र रूप से लिखे गए इन लेखों में कहीं-कहीं, किसी एक लेख का कोई अंश या कोई कथन, दूसरे लेख में भी दिखाई पड़ सकता है। मेरी समझ से जो अंश जहाँ है वहाँ उसकी उपस्थिति उस लेख के लिए आवश्यक है।

प्रगतिशीलता के इस दौर में हम बदलते हुए समय के साथ है। यह हमारे भविष्य के लिए शुभ लक्षण हैं। किन्तु, आधुनिकता के नाम पर जो अनर्गल, अशुभ और अवांछित भी सिमटता चला आ रहा है, उसका हम क्या करें? साथ ही यह भी विचारणीय है कि हमारे चिन्तन के मूल-स्रोत के रूप में, आर्ष-परंपरा की जो प्रभूत सामग्री हमारे पास है और जिससे हमारी अपनी पहचान बनती है, उसका क्या उपयोग हो सकता है? हमारी परंपरा और हमारी प्रगतिशीलता का मिलन-बिन्दु कहाँ है? है भी या नहीं? यह भी हमारे सोच का विषय है।

पूर्वजों की धरोहर को विस्मृत कर, हम कहीं एक सुदृढ़ धरातल पर खड़े नहीं हो सकते। भारतीय जन-मानस हमें इसकी स्वीकृति देगा भी नहीं। बात यह है कि रिक्थ-क्रम से जो हमें प्राप्त है, जो हमारी परंपरा है उसकी जड़ें बहुत गहराई से अपना जीवन-द्रव प्राप्त करती हैं। कहीं-कहीं यह गहराई प्राक्वैदिक भी हो

सकती है । यह स्वत: ऊर्जा-सम्पन्न एक जीवन्त परंपरा है जिसमें समय के दबाव को झेलने की, विरोधी स्थितियों में भी सामञ्जस्य और संतुलन स्थापित करने की तथा 'नये' के लिए, विकल्प के रूप में स्थान बना देने की अद्‌भुत क्षमता है । इससे भी अधिक यह हमारे अन्तर्जगत की वस्तु है, हमारे चिन्तन की दिशा-दृष्टि भी यही निर्धारित करती है ।

अब समय बहुत तेजी से बदल रहा है । विज्ञान के नित्य-नये आविष्कारों ने प्रकृति और मानव-जीवन के अनेक रहस्यों को अनावृत कर दिया है । हमारे घर-परिवार से लेकर पूरे विश्व तक विज्ञान ने जो क्रान्ति की है उससे सभी पुराने विश्वासों और पुरानी मान्यताओं की इमारतों में दरारें पड़ती जा रही हैं । ऐसी स्थिति में, भारतीय संस्कृति, धर्म, अध्यात्म, राजनीति, समाज-परिवार तथा साहित्य आदि के मूल प्रश्नों को भी नये आलोक में देखने-परखने की आवश्यकता है ।

इन लेखों में परम्परा और आधुनिकता के मिलन-बिन्दुओं की तलाश जारी है ।

राका प्रकाशन से इसके पूर्व भी मेरी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं । सम्प्रति, यहाँ के स्वत्वाधिकारी श्री राकेश तिवारी ने जिस तत्परता और संलग्नता के साथ इस पुस्तक को प्रकाशित किया उसके लिए मैं उनका आभार मानते हुए उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ । इस पुस्तक के साथ ही मेरा दूसरा निबन्ध-संग्रह 'धूप की चिट्ठियाँ' भी वे प्रकाशित कर रहे हैं ।

इस पुस्तक के लेखों में जिन पुस्तकों एवं पत्रिकाओं आदि की सामग्री का उपयोग हुआ है उनका यथा-स्थान उल्लेख कर दिया गया है । इसके साथ ही मैं उन सभी विद्वानों का आभारी हूँ जिनके विचारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन लेखों में उपयोग किया गया है ।

अंत में, इन लेखों के माध्यम से, भारत की सांस्कृतिक चेतना की सही पहचान कराने का मेरा यह प्रयास कितना सार्थक है, यह निर्णय मैं अपने सुधी पाठकों के विवेक पर छोड़ता हूँ ।

विजय दशमी
२६ अक्टूबर, २००१ ईसवी

रामचन्द्र भोज

विषयानुक्रम

भारतीय संस्कृति–अनार्ष प्रवृत्तियाँ और आर्ष-चिन्तन के विकल्प

भारतीय संस्कृति को समझना आसान नहीं है। इसके लिए, कोई परिभाषा, कोई समीकरण अथवा कोई प्रतिमान निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। यह निश्चित करना और भी कठिन है कि देश की वैविध्यपूर्ण एकता अथवा समग्रता को अभिव्यक्त करने वाली इस संस्कृति का मूलाधार कहाँ है? इस महावृक्ष की जड़े कहाँ हैं जहाँ से इसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ अपना जीवन-द्रव प्राप्त करती हैं?

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में, निरपेक्ष-चिन्तन की गुंजाइश बहुत कम है। इसमें भारतीय जन-मानस की सदियों की आस्था और परम्परागत विश्वास की ऐसी फिसलन है कि वैज्ञानिक बुद्धि, इसे पकड़ पाने की कोशिश में, खुद फिसल जाती है। यह भारतीय संस्कृति ही है जो अगम्य होते हुए भी, जन-सामान्य के लिए सहज गम्य है। देश का आम आदमी, रोज इस संस्कृति को झेलता है। यह उसके दैनन्दिन जीवन की आचरण-संहिता है। लौकिक और पारलौकिक जीवन के बीच का पुल है। वह इस संस्कृति को, इसकी सम्पूर्णता के साथ स्वीकार करता है। विरोधी स्थितियों की पहचान उसे नहीं है और न वह इन्हें जानना चाहता है। फिर भी, एक विवेकशील व्यक्ति के सामने एक बड़ा प्रश्न-चिन्ह खड़ा हो जाता है कि यह संस्कृति कहाँ है? क्या यह ऋषियों-मुनियों के, उस लौकिक-आध्यात्मिक चिन्तन से उद्‌भूत है जिसके, अधिकांश स्वर मानवतावादी हैं? क्या यह धर्म, अध्यात्म, काम-शृंगार और कला को एक में जोड़ने वाली प्रवृत्तियों का नाम है? क्या यह तीर्थों, मन्दिरों, मूर्तियों, उत्सवों और त्योहारों में है जहाँ, भूखे-नंगे लोगों से लेकर धनाढ्य वर्ग तक, एक धरातल पर आकर, पारलौकिक जीवन की सम्पन्नता के स्वप्न देखता है? क्या यह उस वर्ण, जाति, संस्कार, पवित्रता-अपवित्रता तथा आचार-विचार की द्योतक है जिसे बहुसंख्यक भारतीय अपना धर्म समझता है? क्या यह व्रत, उपवास, 'टैबू', टोने-टोटकों तथा लोकाचारों में है? क्या यह हल्दी-दूब-'अच्छत', गौरी-गणेश, ग्राम्य देवी, भैरव-'बरम' आदि के साथ अनेक

प्रतिषेधों-निषेधों में है ? क्या यह लोक-कथाओं तथा लोक-नृत्यों आदि से लेकर, काव्य-साहित्य तथा सभी कलात्मक अभिव्यक्तियों की उस आनन्दमूलक चेतना का नाम है जो विश्व को अपनी ओर आकृष्ट करती है ?

वास्तव में, यह संस्कृति एक संयोजित संगीत (आरकेस्ट्रा) की तरह है जिसमें सुदूर अतीत की आवाज है, वैदिक ऋचाओं का स्वर-संयम है । अनार्ष (अवैदिक) ध्वनियों-प्रतिध्वनियों की जनवादी चेतना है । साथ ही, आज के कोलाहल भरे विश्व की उस स्वर-मरीचिका का किंचित् हस्तक्षेप भीं है जिसे, हर प्रबुद्ध व्यक्ति अपसंस्कृति का आसन्न संकट समझता है । इस संस्कृति के दायरे में प्रवेश करना, किसी भूल-भुलैया में प्रवेश करने जैसा ही है ।

भारतीय संस्कृति और आर्ष परम्परा

भारतीय संस्कृति को, प्राय: आर्ष (वैदिक ऋषियों के) चिन्तन से उद्‌भूत मानने की परम्परा रही है । इसके विपरीत, वास्तविकता यह है कि इसमें, अनार्ष (अवैदिक) परम्पराओं एवं प्रवृत्तियों का प्रभाव ही सर्वाधिक है । ऋग्वेदोत्तर काल से ही, आर्ष-चिन्तन में अनार्ष प्रभाव दिखाई पड़ने लगते हैं और इसके फलस्वरूप, प्रत्येक काल-खण्ड में, इस आर्ष-चिन्तन की परम्परा में, नये विकल्प बनते चले गए हैं । अथर्ववेद से लेकर ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, सूत्रों तथा विशेषतया पुराणों में ये विकल्प देखे जा सकते हैं ।

भारतीय संस्कृति, भारत के आदि काल से लेकर, कालान्तर में यहाँ आकर बस जाने वाली अनेक नस्लों अथवा जातियों-प्रजातियों की संस्कृति है । यह एक महासमुद्र है जिसमें, अनेक स्रोतों से निकली अनेक नदियों तथा उनसे जुड़े, छोटे-बड़े जलाशयों का योगदान है । आर्यों ने, अपने भरत नाम के एक प्राचीन कुल के नाम पर इसका नाम भारतवर्ष रखा । भारतीय संस्कृति का जन्म, इसी भारत के प्रागैतिहासिक काल में हुआ और ऐतिहासिक प्रक्रिया के समानान्तर इसका विकास हुआ । इतिहास से सम्बद्ध होते हुए भी, इसने अपने लिए इतिहास को जरूरी नहीं समझा । इसने अपनी पुरानी से पुरानी धरोहर को संभाल कर रखा और इसे निरन्तर सँवारती और विकसित करती रही । इसके एक दीप ने, असंख्य दीपों की शृंखला को जोड़ा । अनेक जातियों के परस्पर संघर्ष, सम्पर्क और संतुलन से, इस संस्कृति के विभिन्न सूत्रों का, अधिग्रहण अथवा अस्वीकार संभव हुआ । भारतीय संस्कृति, न तो ऋषियों-मुनियों की संस्कृति है और न राजाओं और महाराजाओं की । यह तथाकथित उच्च्व-वर्णों की भी संस्कृति नहीं है । सामान्यतया, यह जनता की संस्कृति है, जनवादी संस्कृति है । ऋषियों, पुरोहितों, स्मृतिकारों तथा पौराणिकों ने, समय-समय पर लोक-प्रवृत्ति के अनुकूल, वैदिक परम्परा में फेर-बदल

किया है । वैदिक ऋचाओं की व्याख्या तथा टीका-टिप्पणी में, नये संदर्भ प्रस्तुत कर, नये विकल्पों के लिए स्थान बनाया है । विभिन्न जातीय संस्कारों के प्रबल टकराव के बीच, अभिजातवर्गीय अस्मिता और सर्वोच्चता को सुरक्षित रखने के लिए, वर्ण-व्यवस्था, आचार-विचार एवं दंड-विधान आदि में, एकपक्षीय निर्णय के उत्तरदायी भी यही लोग हैं ।

वैदिक संस्कृति, वन-प्रदेश की उस पगडंडी की तरह है जिसमें पाँवों की आहट तो है किन्तु पद-चाप स्पष्ट नहीं हैं । यह किसी राज-मार्ग की तरह, अपने पूरे विस्तार के साथ प्रत्यक्ष नहीं हुई है । यह इसलिए है कि वेदों के रहस्यमय रूप का अवगुंठन पूरी तरह उठ नहीं पाया है । वेदों का ऐतिहासिक परिदृश्य तो, और भी अधिक कुहासे में घिरा हुआ है । अनेक विद्वानों द्वारा निर्धारित किन्तु विवादित, विभिन्न तिथियों को ४००० ई० पू० से १२०० ई० पू० तक रखा जा सकता है । प्राचीनतम ऋग्वेद है जिसमें, कम से कम दो पीढ़ियों द्वारा रचे गए मंत्र संग्रहीत हैं । इसके, दो से लेकर सातवें मंडल को सर्वाधिक प्राचीन, प्रथम और आठवें को उसके बाद का, नवें मंडल को उसके भी बाद का तथा दसवें मंडल को अपेक्षाकृत नवीनतम माना जाता है । इनमें परस्पर एक या दो शताब्दी का अन्तर हो सकता है । ऋग्वेद के 'खिल सूक्तों' को, जो पौराणिक धाराओं के अन्तःक्षिप्त हैं, मेकडॉनेल चौथी शताब्दी ई० पू० से पहले की रचना नहीं मानते । सायण ने इनका भाष्य नहीं किया है । इसी क्रम में ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा सूत्रों को क्रमशः १००० ई० पू० से लेकर ४०० ई० पू० तक रखा जा सकता है ।

इस आर्ष काव्य (वैदिक काव्य) की मूल चेतना प्रकृति से उद्‌भूत है । ऋषियों की दृष्टि में, प्रकृति की वे सभी घटनाएँ या वस्तुएँ, जिनसे उनके मन में भय, आस्था अथवा प्रेम का संचार हुआ है, दिव्य, चेतन और पवित्र हैं । इसकी सीमा में, नक्षत्र, पर्वत, नदी, भू-भाग, पशु-पक्षी तथा औषधियाँ ही नहीं, मनुष्य निर्मित वस्तुएँ यथा—युद्ध-रथ, यज्ञ-यूप, ढोल, हल तथा सांस्कारिक उपकरण आदि सभी दिव्य, चेतन एवं आराध्य हैं (वैदिक माइथोलॉजी-मैकडॉनेल) ।

वैदिक ऋचाओं के द्रष्टा या रचयिता को सामान्यतया ऋषि या कवि, क्रीस्त, कीरि तथा कारु कहा गया है । वैदिक कविता, मूर्तीकरण या मानवीकरण, रूपकत्व तथा बिम्बों-प्रतीकों के कारण रहस्यमयी है, प्रायः अनेकार्थी है । कवि, प्रकृति के जिस रूप को, अथवा जिस वस्तु को, देवत्व भाव से देखता है उसके लिए उन सभी विशेषणों अथवा बिम्बों का प्रयोग करता है जो परमसत्ता या सृष्टि-नियन्ता के हो सकते हैं । इसीलिए, वैदिक देवता, अपने मूल रूप में प्रायः एक ही परम दिव्य स्रोत से उद्‌भूत प्रतीत होते हैं । ऋग्वेद का पूर्ववर्ती बहुदेववाद, दसवें मण्डल

में आकर, एकेश्वरवाद एवं सर्वेश्वरवाद के संकेत छोड़ जाता है। वैदिक सूक्तों की, ब्राह्मणों, उपनिषदों एवं सूत्र-ग्रन्थों में बराबर व्याख्या होती रही और अर्थ-विस्तार में नये संदर्भ जुड़ते रहे। अस्पष्ट अंशों के लिए, कथाओं का सृजन ब्राह्मण-ग्रन्थों से होने लगा था। कथाओं के सूत्र उस समाज के लिए गए जो आर्यों एवं आर्येतर जातियों का मिश्रित समाज बन चुका था या बनने के क्रम में था। बाद में यह प्रवृत्ति बढ़ती गई और पौराणिक साहित्य में चरम सीमा पर पहुँच गई।

हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्राक्‌वैदिक संदर्भ

आज जो भारतीय संस्कृति है, उसमें वैदिक संस्कृति के अंश बहुत कम हैं। इसका कारण यह है कि यह संस्कृति, हिन्दू धर्म से अनुप्राणित है। हिन्दू धर्म के सूत्र अत्यन्त प्राचीन हैं और इतिहास के उस अंधकार में हैं जहाँ टटोलने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है। वास्तव में, यह प्राक्‌वैदिक धर्म है और विश्व के प्राचीन धर्मों में इसका स्थान है। इसके स्वरों की अनुगूँज, विश्व के सभी प्राचीन धर्मों— विशेषतया भारोपीय धर्मों में व्याप्त है। इसीलिए इसे सनातन हिन्दू धर्म कहा जाता है। इस धर्म के अनेक सूत्र, यहाँ की आदिम जातियों में बिखरे हुए थे। नॉर्डिक नस्ल के आर्यों के प्रबल दबाव के कारण, आदिम निवासियों (जिनमें औष्ट्रिक, मंगोल तथा द्रविड़ आदि नस्लों के लोग थे) को, आर्यों के प्रथम निवास-क्षेत्र 'ब्रह्मावर्त' (सरस्वती और दृषद्वती नदियों का मध्य भाग) से निष्कासित होना पड़ा। किन्तु 'ब्रह्मर्षि देश' (कुरुक्षेत्र और मथुरा का प्रान्त भाग) में यह आदिम धर्म, अपने बिखरे हुए रूप में, आर्येतर जातियों के बीच, उनके विश्वासों एवं मान्यताओं में जीवित और सतेज था। यह, ब्रह्मर्षि देश के पूर्व उस देश में भी था जिसे मनु (२.२१) ने 'मध्य देश' कहा हैं। हिमालय और विन्ध्याचल के बीच, कुरुक्षेत्र के पूर्व और प्रयाग के पश्चिम का क्षेत्र मध्य देश है। ऐतिहासिक हिन्दू धर्म का उदय, आर्यों एवं अनार्यों के संघर्ष एवं संतुलन की स्थिति में, उपरोक्त ब्रह्मर्षि देश में हुआ और उपरोक्त मध्य देश में उसका विकास हुआ।

अनार्यों को पराजित कर, गुलाम बना लेने के बाद भी आर्य लोग, अपने समाज को, उनके विश्वासों एवं मान्यताओं के संक्रमण से नहीं बचा सके। जैसे-जैसे वे पूर्व की ओर बढ़ते गए वैदिक धर्म को बचाना मुश्किल हो गया। वास्तव में पूर्व का यह धर्म, विविधात्मक था। पूर्व की संस्कृति अन्तर्वेधी संस्कृति थी। आर्यों के समाज में, अनार्य दासों एवं दासियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनकी मान्यताओं के प्रभाव से, आर्य धर्म का विघटन प्रारम्भ हो गया। अनार्य दास वर्ग ने, समाज के निम्न वर्गों को अधिक प्रभावित किया। इनमें कुछ लोग पहले के सम्पन्न लोग थे। संस्कृति के उच्च स्तर पर थे। दुर्भाग्य से उन्हें दास

होना पड़ा था। इसी प्रकार आर्येतर स्त्रियों का प्रवेश आर्यों के अन्तःपुर में बढ़ता गया। इनमें कुछ दासियों के स्तर से ऊपर उठकर पत्नियाँ या उपपत्नियाँ भी बन गईं। आर्यों के साथ रहकर भी, वे अपनी भाषा, अपने संस्कार तथा अपने धर्म से विमुख नहीं हो सकी। उनके पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, अभिचारिक कृत्य, टैबूज तथा उनके विशिष्ट तथा ग्राम्य, देवी-देवता सब उनके साथ रहे। उनकी संतानें हुईं और ऋषि संज्ञा से विभूषित हुई। वेदों में कई ऐसे ऋषि मिलेंगे जो दासी-पुत्र है अथवा आर्येतर स्त्रियों से उत्पन्न हैं। पुराणों में यह संख्या काफी बड़ी हो जाती है। धीरे-धीरे आर्यों ने, आर्येतर मान्यताओं को स्वीकार कर लिया और ऋषियों ने आर्ष-परम्परा में उनके लिए स्थान बनाया।

हिन्दू धर्म के प्राक्वैदिक तत्व, यहाँ की प्राचीनतम आदिम जातियों के विश्वासों एवं मान्यताओं में बिखरे हुए थे। ये जातियाँ विभिन्न नस्लों की है जो समय-समय पर भारत में आईं और यहीं बस गईं। डॉ० बी० एस० गुहा ने इन नस्लों को कुल नौ वर्गों में विभाजित किया है जिनमें छः मुख्य तथा तीन इन्हीं के उपविभाजन हैं। डॉ० एस० के० चटर्जी (वैदिक एज में लेख) इस विभाजन को सर्वाधिक विश्वसनीय मानते हैं। भारतीय संस्कृति के निर्माण में इन सभी का कुछ न कुछ योगदान है। इनमें प्रथम आदिम जाति 'निग्रीटो' थी जो अफ्रीका से ईरान होते हुए भारत आई थी और यहीं से हिन्देशियाई क्षेत्रों में फैल गई थी। इस जाति ने पीपल (अश्वत्थ) तथा गूलर (उदुंबर) जैसे दूध वाले वृक्षों को अपने अभिचारिक कृत्यों से सम्बद्ध किया और उर्वरता (लिंग उर्वरता) तथा मृत व्यक्तियों को भी इन कृत्यों में स्थान दिया। मृत व्यक्तियों के मार्ग के रूप में स्वर्ग की अत्यन्त प्रारम्भिक कल्पना भी इन्हीं की देन है। जे० एच० हटन (भारत में जाति प्रथा) के अनुसार यह गूलर, अफ्रीका, इटली, न्यूगिनी, असम और दक्षिण भारत के उर्वरता के पंथ से जुड़ा है। कालान्तर में भारत की कुछ जनजातियों में अपने अवशेष छोड़कर, यह जाति भारत से विलीन हो गई।

इसके बाद कई चरणों में, भारत में आने वाली औष्ट्रिक जातियों का योगदान अनेक रूपों में स्मरणीय है। 'टोटेम' और जीव-तत्व का सिद्धान्त, अनेक वृक्षों एवं वनस्पतियों के नाम, कुछ तिथियाँ, शिश्नोपासना का प्रारम्भिक रूप, अभिचारिक क्रियाएँ, प्रतिषेध (टैबू) की भावना, धान की खेती और इसी से सम्बद्ध पुनर्जन्म की कल्पना, अण्डे के रूप में ब्रह्माण्ड की संरचना, नाग-पूजा तथा विष्णु के कुछ अवतारों के प्रारम्भिक सूत्र (कच्छप, मत्स्य) आदि इन्हीं की देन है। कुछ लेखक 'जेठ-जेठानी' तथा 'देवर-देवरानी' जैसे पारिवारिक रिश्ते, 'न्यौछावर' और 'बरन' तथा 'चावल-सुपारी' आदि के अतिरिक्त सिन्दूर (नाग-संभव, नाग-गर्भ) की प्रथा को भी इन्हीं से जोड़ते हैं।

भूमध्यदेशीयों, आर्मीनायडों अथवा द्रविड़ भाषियों के भी कई वर्ग हैं। इनके योगदानों पर अलग से पुस्तकें भी प्रकाशित हैं। संक्षेप में आद्यशक्ति के रूप में मातृदेवी एवं पूरक पितृदेव की कल्पना इन्हीं की है और इन्होंने इसका विकास शिव-उमा तथा इनके वाहन सिंह-वृषभ आदि के रूप में किया। शिवोपासना के साथ लिङ्गोपासना में आध्यात्मिक तत्वों का सन्निवेश, नाग-पूजा, विशेषतया 'पूजा' की परम्परा, देवदासी-प्रथा एवं नरबलि आदि को भी इन्हीं से सम्बन्धित माना जाता है। मार्क कुलीन्स पूजा की उत्पत्ति द्रविड़ शब्द 'पुजे' (पुष्प कर्म) से मानते हैं। 'पुसु' प्रस्तर-प्रतिमा पर बलि-पशु के रक्त लगाने से सम्बंधित है (वैदिक एज डॉ० एस० के० चटर्जी का लेख)। अनुमान है कि यह प्रथा औष्ट्रिक भी हो सकती है जिसमें, बाद में रक्त के स्थान पर चंदन अथवा सिन्दूर लगाने की प्रथा चल पड़ी।

इन सबके अतिरिक्त भी भारत की आदिम संस्कृति अथवा आदिम धर्म के अनेक अनपढ़े अध्याय हैं। वर्तमान संस्कृति की आलीशान इमारत इन्हीं नींव के पत्थरों पर टिकी है।

सिन्धु घाटी की सभ्यता में, इन आदिम मान्यताओं के संदर्भ मिल जाएंगे क्योंकि, यहाँ के निवासी आर्यों के पूर्ववर्ती, इन्हीं औष्ट्रिक, मंगोल तथा द्रविड़ आदि नस्लों के लोग थे। यहाँ के उत्खनन से प्राप्त मोहरों और मूर्तियों में, पशुपति शिव (जिसके जैन धर्म के ऋषभ देव से भी संबंधित होने का अनुमान है), वृक्ष-पूजा तथा नाग-पूजा, लिंगोपासना (प्रस्तर-खंडों में प्राप्त लिंग तथा गौरी पट्ट), वृषभ-पूजा आदि औष्ट्रिक और द्रविड़ परम्पराओं की ओर संकेत करते हैं। मार्शल यह मानते हैं कि सिन्धु घाटी में, आर्यों से पहले वृषभ और नाग की पूजा, प्रचलित थी (मोहन-जोदड़ो एन्ड इंडस सिविलाइजेशन)।

अनार्ष (अवैदिक) प्रवृत्तियाँ— वृक्ष-पूजा, वृषभ-पूजा, नाग-पूजा तथा शिश्नोपासना

वेदों में वृक्ष-पूजा, नाग-पूजा, वृषभ-पूजा तथा शिश्नोपासना आदि का सामान्यतया कोई उल्लेख नहीं मिलता। लगता है आदिम परम्पराओं की कोई बीच की कड़ी थी, जो कहीं टूट गई है। वेदों में शिव, शक्ति तथा विष्णु की उपासना के संकेत भी अत्यन्त विरल है और वे भी उस रूप में तो बिल्कुल नहीं है जिस रूप में, परवर्ती धार्मिक साहित्य में उनका विकास हुआ है। वेदों के बाद ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा सूत्र-ग्रन्थों में कुछ अनार्य परम्पराओं के संकेत मिलने लगते हैं जिनका विकास और विस्तार, पुराणों में हुआ है।

वेदों तथा परवर्ती ग्रन्थों में दास, दस्यु, पणि, व्रात्य, निषाद, नाग, कीकट, किरात, आन्ध्र, पुलिंद, पुण्ड्र तथा शबर आदि आदिम आर्येतर जातियों के उल्लेख मिलते हैं। इनमें कुछ औष्ट्रिक हैं, कुछ द्रविड़ है और कुछ मंगोल आदि नस्लों के लोग हैं। उपरोक्त परम्पराएँ, इन्हीं लोगों के बीच सुरक्षित रही होंगी। द्रविड़ नस्ल के दास, दस्यु, तथा पणि, आर्यों के प्रगट-शत्रु थे। इनके विनाश के लिए आर्यगण, अपने देवताओं से प्रार्थनाएँ करते थे। ये लोग समृद्धि और संस्कार में आर्यों से कम नहीं थे। निन्दा, घृणा और प्रतिहिंसा की भावनाओं के बावजूद, वेदों में दासों की समृद्धि और पणियों की दानशीलता (वृबु-भरद्वाज के संदर्भ में) की चर्चा भी है। निषाद, आर्यों के निकट थे। वेबर महोदय की धारणा है कि निषाद (नि + सद्) आर्यों द्वारा बसाए गए थे (हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर)। 'विश्वजित्' नामक यज्ञ में निषादों का साथ रहना आवश्यक था (कौषीतकि ब्रा० २५.१५) किन्तु शूद्र इससे बहिष्कृत थे। जब कि शूद्र, आर्यों के समाज के अंग थे। निषाद, आर्यों के समाज से पृथक थे सम्भवतः इसीलिए उन्हें यह सम्मान देना आवश्यक हो गया था। किरात लोग, मूजवन्त पर्वत से आर्यों के लिए सोमलता खोद कर लाते थे। यास्क के अनुसार कीकट भी किसी अनार्य देश के निवासी थे। संभवतः ये उस देश के निवासी रहे होंगे जिसे बाद में मगध कहा गया। ऐतरेय ब्राह्मण में 'विश्वामित्र - शुनः शेष' के प्रसंग में पुण्ड्रों, पुलिंदों तथा शाबरों का उल्लेख है। संभवतः, ये पूर्व-दक्षिण (कृष्णा-गोदावरी) के निवासी थे।

नागों का उल्लेख वेदों में कम किन्तु, वेदोत्तर ग्रन्थों में विशेष रूप से मिलने लगता है। ये औष्ट्रिक नस्ल के लोग थे और निषादों से इनकी घनिष्टता थी। निषाद भी औष्ट्रिक थे। ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य संहिताओं एवं ब्राह्मण-ग्रंथों में 'निषाद' शब्द का प्रयोग सभी अनार्य जातियों के लिए हुआ है। नागों का ऐतिहासिक महत्व भी है। ये लोग शिवोपासक, लिंगोपासक तथा सर्प-पूजक थे। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के सूक्त ७६ तथा ९४ के रचयिता क्रमशः अर्बुद एवं जरत्कर्ण है जो नागजातीय हैं। सायण की व्याख्या के अनुसार अर्बुद, कद्रु के तथा जरत्कर्ण इरावत के पुत्र थे। ये दोनों ही सर्पजातीय थे। इसी मंडल के १८९ सूक्त की ऋषिका सर्पराज्ञी है जो नागजातीया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल तक, बहुत से अनार्य, ऋषियों के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके थे।

वृक्ष-पूजा, वृषभ पूजा, नाग-पूजा तथा शिश्न पूजा, इन चारों की परस्पर सम्बद्धता भी है। इनके संदर्भ भी अत्यन्त प्राचीन हैं। आर्यों के प्रभाव से, ये प्रथाएँ, आर्यों की मुख्य धारा से, तब तक जुड़ नहीं पाई जब तक अनार्यों का दबाव प्रबल नहीं हो उठा। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के सूक्त-९७ में ओषधियों की प्रशस्ति

है, सूक्त-१४६ में 'अरण्यानी' के रूप में वन-प्रदेश का मूर्तीकरण हैं। उस विभीदक (बहेड़ा) वृक्ष की चर्चा है जिसके फल से अक्ष (पांसे) बनते थे (सूक्त-३४)। अश्वत्थ (पीपल) की लकड़ी का उपयोग यज्ञ में होता था, अरणि के ऊपर की लकड़ी पीपल की ही होती थी। दसवें मण्डल के ही सूक्त-१३५ में, वह वृक्ष है जिसके नीचे यम, देवताओं के साथ पान करते है। छान्दोग्य उपनिषद (८.५.३) में इस वृक्ष को 'सोम सवन' नामक अश्वत्थ कहा गया है। अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता में, न्यग्रोध (बरगद), अश्वत्थ (पीपल), उदुंबर (गूलर) तथा प्लक्ष (संभवत: पाकड़) के नीचे अप्सराओं और कुछ संदर्भों में गंधर्वों का भी, निवास बताया गया है। बिल्व (बेल), तथा उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी के बने पात्रों की भी ब्राह्मणों और उपनिषदों में चर्चा की गई है। इन सब प्रकरणों से वृक्षोपासना के तो संकेत नहीं मिलते। केवल इतना कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल तक, दूध वाले वृक्षों के प्रति एक प्रकार का अभिचारीय आकर्षण जागृत हो उठा था। वेदों में वृक्ष-पूजा नहीं है। इस पूजा-पद्धति का विकास बाद में हुआ। पीपल हिन्दुओं का पवित्र वृक्ष है ही, बौद्धों का 'बोधि वृक्ष' भी यही है। बेल, शिवोपासना से संबंधित है और बरगद, प्रयाग का प्रसिद्ध 'अक्षय वट' हैं। पुराणों में वृक्ष-पूजा विकसित रूप में मिलती है।

वृषभ-पूजा का प्रचलन क्रीट, मिस्र तथा सिन्धु घाटी में बहुत पहले से था। अवेस्ता में वृषभ, इन्द्र के समान देवता 'वेरेथ्रघ्न' का अवतार है। वेदों में वृषभ, प्रतीकात्मक रूप में इन्द्र, द्यौस तथा रुद्र के लिए व्यवहृत हुआ है और गाय, रश्मि, मेघ, पृश्नि, इड़ा तथा अदिति के लिए। देवों को अक्सर 'गोजाता:' कहा गया है। गाय की पवित्रता के चिन्ह ऋग्वेद के कुछ अंशों (८.९०.१५-१६) में दिखाई पड़ने लगते हैं। तत्कालीन समाज में वृषभ और गाय भी अन्य पशुओं की तरह यज्ञीय पशु थे और इनका वध, यज्ञीय संस्कारों के अतिरिक्त मांसाहार के लिए भी किया जाता था। अथर्ववेद (१२.४५.८) में प्रथम बार, एक पवित्र पशु के रूप में, गाय की पूजा को मान्यता प्राप्त हो जाती है। ऋग्वेद के लिए गाय की पवित्रता विजातीय हो सकती है क्योंकि यह एशिया माइनर, मिस्र और क्रीट के धर्मों से संबंधित है किन्तु अथर्ववेद में आर्येतर प्रभाव के कारण इसकी प्रविष्टि आश्चर्यजनक नहीं है। शतपथ ब्राह्मण (३.१.२.२१) में यह कहा गया कि जो गोमांस खाता है, उसे पृथ्वी पर पुन: आना पड़ता है। वैसे, अतिथियों के लिए गोमांस की स्वीकृति (३.४.१.२) भी इसी ग्रन्थ में है। कालान्तर में आर्यों ने भी गाय को पूर्णतया पवित्र एवं अवध्य मान लिया किन्तु वृषभ-पूजा उनके यहाँ प्रचलित न हो सकी। यह

वृषभ-पूजा, शिवोपासना के साथ आर्येतर जातियों में अधिक प्रचलित रही और बाद के हिन्दू धर्म में इसका स्थान महत्वपूर्ण हो गया।

नाग-पूजा का प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध है। पहले जिस नाग जाति का जिक्र है उसके वंशजों ने कभी मगध पर शासन किया था। भारशिव नाग तथा उसके उत्तराधिकारियों का, प्रयाग, वाराणसी तथा गोरखपुर के आस-पास, गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों में, स्थायी अधिवास था। जनजाति 'भर' जो अब नाम मात्र को शेष रह गई है, नागों से ही संबंधित है (रिलीजन्स इन इंडिया-हॉपकिन्स)। भरों को औष्ट्रिक अथवा कोलेरियन मानने का तर्क भी हॉपकिन्स ने प्रस्तुत किया है। पुराणों में नागों और सुपर्णों का आपसी वैमनस्य, अनेक कथाओं के रूप में विकसित हुआ है। जिस तरह नागों का टोटेम, 'नाग' था उसी प्रकार सुपर्णों का टोटेम 'सुपर्ण' (पक्षी) था। सुपर्णों के नायक गरुड़ थे। सुपर्ण, विष्णु के उपासक थे और नाग, शिव के। शिव के उपासक होने के कारण, नाग-पूजा और लिंगोपासना भी इनके धर्म का प्रमुख अंग थी। इनकी अनेक कहानियाँ, रामायण, महाभारत तथा पुराणों में मिल जाएंगी। महाभारत में 'टोटेम' वाली अनेक जातियों का उल्लेख है। साँप, सारे यूनान में आत्मा के वाहक माने जाते हैं। क्रीट में भी नाग-पूजा के संकेत मिले हैं। भारत में शिव के साथ नाग-पूजा जुड़ी हुई है। आर्ष परम्परा में नाग-पूजा स्वीकार्य नहीं थी। महाभारत का खाण्डव वन-दहन, नाग यज्ञ तथा कृष्ण का नाग-दमन आदि इस बात के प्रमाण हैं कि नाग-पूजा का बहुत समय तक विरोध किया गया।

ऋग्वेद (७.२१.५ तथा १०.९९.३) में 'शिश्ने देवा:' अर्थात् लिंग-पूजकों की निन्दा की गई है। प्रिजीलुस्की ने सिद्ध किया है कि 'लिंगम्' शब्द आर्य भाषा का नहीं हैं। भाषायी अध्ययन की दृष्टि से 'लिंग-लगुड' शब्द औष्ट्रिक जातियों का हैं। यह प्राचीनतम पूजा-पद्धति, आर्यों के धर्म में, पहले किसी भी प्रकार स्थान नहीं पा सकी। पाणिनि ने शिव की मूर्ति का तो उल्लेख किया है किन्तु लिंगोपासना का नहीं। महाभारत में लिंग-पूजा (अनुशासन पर्व), प्रक्षेप है अथवा अनार्य प्रभावों के कारण है। शिश्न-पूजा का विधिवत् उल्लेख पुराणों में ही है। तत्कालीन ऋषि, शिव-पूजा और लिंग-पूजा, दोनों को ही, आर्य-धर्म से दूर रखना चाहते थे। पुराणों से ही उस द्वन्द्व का पता चलता है जो ऋषियों के मन में, अपनी पत्नियों के कारण उत्पन्न हुआ था। ऋषि-पत्नियाँ, अधिकांशत: अनार्य-कुलों से थीं। आर्यों के पितृ-प्रधान समाज में, आर्येतर स्त्रियों को स्वीकार करने की पूरी छूट थी। यह प्रवृत्ति वैदिक काल से ही थी। बाद में, स्मृतिकारों ने भी, स्त्रियों के सम्बन्ध में, उच्च्व वर्णों को काफी छूट दे रखी है। ऋषि-पत्नियाँ शिव-पूजा और शिश्नोपासना इन दोनों पूजा-पद्धतियों को, आर्य-कुलों में प्रचलित करा देना चाहती थीं जबकि

ऋषि गण इसके विरोध में थे । वामन पुराण, कूर्म पुराण तथा शिव पुराण आदि में, विभिन्न कथाओं के माध्यम से इस प्रवृत्ति को व्यक्त किया गया है । ऐसे प्रसंग विरल नहीं हैं जब लिंगधारी शिव के आश्रमों में प्रवेश करते ही, ऋषि-पत्नियाँ कामार्त हो उठीं है और ऋषियों ने घूंसे, डंडे तथा पत्थरों से, शिव पर प्रहार कर, उन्हें भगाने की चेष्टा की है—

क्षोभं विलोक्य मुनयः आश्रमे तु योषिताम्
हन्यतामिति सम्भाष्य काष्ठ पाषाण पाणयः । (वामन पुराण)

इन सबसे पता चलता है कि लिंगोपासना का विकल्प, आर्ष परम्परा में, बहुत बाद में प्रस्तुत किया जा सका और यह तब हुआ जब आर्ष-परम्परा विकल्पों के कारण, बहुत अधिक विघटित हो गई ।

आर्ष और अनार्ष परम्पराओं का संगम

आर्यों और आर्येतर जातियों का परस्पर संघर्ष और संतुलन का इतिहास शताब्दियों का इतिहास है । यह, वह समर-गाथा है जिसमें बाहर से विजेता दिखने वाले, अन्दर से पराजित हो गए । जैसे-जैसे आर्य, पूर्व तथा दक्षिण की ओर बढ़ते गए, विजित अनार्यों ने अपनी परम्पराओं की लपेट में, उनकी चिन्तन-प्रक्रिया को ही विखंडित कर दिया । आर्ष-परम्परा के लिए यह गहरा संकट था । इसकी निवृत्ति के लिए, उन्होंने उन सभी अनार्ष परम्पराओं को स्वीकृति दे दी जिनकी आर्ष-परम्परा में जरा भी गुंजाइश थी । वैदिक धर्म की धारा, अनेकानेक अनार्य-धर्मों की जल धाराओं से मिलकर, एकाकार हो गई । वैदिक देवता या तो समाप्त हो गए या नाम मात्र को शेष रहे । नया देववाद सामने आया । अध्यात्म में नये क्षितिज उद्घाटित हुए । संस्कारों की तालिका में, लोकाचारों से लेकर प्रतिषेध-निषेध और टोने-टोटकों की अनार्य प्रवृत्तियाँ भी जुड़ गई । आर्यों के पितृ-प्रधान समाज का टकराव, ऐसे समाज से भी हुआ जो मातृ प्रधान था । इसके फलस्वरूप देवी-पूजा और तंत्र-मंत्र बाहर से आकर वैदिक मत में मिल गए । ऐसा कहा जाता है कि शक्ति की उपासना का मूल स्रोत एशिया माइनर की 'ग्रेट मदर' है । द्रविड़ों ने सर्वप्रथम इसे स्वीकृति दी । संभवतः दक्षिण का समाज बहुत समय तक मातृ प्रधान रहा । सिन्धु घाटी की सभ्यता का सामाजिक गठन भी कुछ अनुमानों के अनुसार मातृ सत्तात्मक हो सकता है । बाह्य प्रभावों के कारण जब दक्षिण के समाज का वह भाग जो मातृ प्रधान था, पितृ प्रधान हुआ तो वहाँ देव मन्दिर की साधिकाएँ, नर्तकियाँ या देवदासियाँ बना दी गई ।

नये विकल्पों के रूप, जो अथर्ववेद से लेकर ब्राह्मणों एवं सूत्र-ग्रन्थों में प्रगट होने लगे थे, व्यापक रूप में तब सामने आए जब बहुसंख्यक पुराणों एवं उपपुराणों

की रचना की गई। 'पुराण संहिता' (अनुपलब्ध) के रचयिता वेद व्यास ने ही इसे प्रारम्भ किया और लगभग हजार वर्ष तक पुराण-रचना की परम्परा चलती रही। वाल्मीकि की भाँति वेद व्यास का नाम भी आर्ष-परम्परा में नहीं है। रामायण के रचयिता वाल्मीकि के प्रति, कुछ लोगों की धारणा है कि वे अनार्य थे। वेद व्यास ने वेदों के संकलन के साथ, महाभारत जैसे इतिहास-काव्य की रचना भी हैं। वेद व्यास का मातृकुल निषादों का है। अनार्ष परम्पराओं के प्रति आकर्षण का यह कारण भी हो सकता है। ऋग्वेद के बाद के वैदिक साहित्य में, इतिहास, पुराण तथा नराशंसी का नामोल्लेख मात्र हुआ है और वह भी भिन्न अभिप्राय में। उपनिषदों में पुराण (एक वचन में) को 'पंचम वेद' तो कहा गया किन्तु वहाँ भी किसी पुराण का उल्लेख नहीं है। इन बहुसंख्यक पुराणों को, इस अनुपलब्ध पुराण-परम्परा से जोड़कर, इन्हें आर्ष-परम्परा से संबंधित मानने पर जोर दिया गया। इन पुराणों का देववाद, पूजा-पद्धतियाँ, संस्कार, लौकिक-प्रथाएँ तथा सामान्य सांस्कृतिक वातावरण, वेदों की मूल भावना से नितान्त भिन्न है। वर्तमान हिन्दू धर्म तथा इससे संबंधित भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त, अनीश्वरवादी धर्मों पर भी पुराणों का व्यापक प्रभाव है।

किसी भी संस्कृति के निर्माण में जीविका के साधनों की भी अहम् भूमिका है। भारतीय संस्कृति में, विभिन्न देवताओं, मिथकीय कल्पनाओं, धार्मिक-प्रथाओं एवं विविध संस्कारों में, पशुपालन एवं कृषि को, प्रेरणा-स्रोत के रूप में देखा जा सकता है। अनेक देवताओं की आकृति-प्रकृति, उनके वाहन तथा उनके प्रतीकों आदि में पशुपालन अथवा कृषि के संदर्भ अथवा रूपकार्थ विद्यमान हैं। शिव तथा उनके पूरे परिवार, वाहन, निवास आदि में वन्य-संस्कृति और कृषि-संस्कृति दोनों की झलक मिलती है। राम-कथा और कृष्ण-कथा में कृषि-संस्कृति के तत्व स्पष्ट हैं। लोक-धर्म की व्यापकता का इतिहास यह बताता है कि किस प्रकार यज्ञादि में संलग्न रहने वाले आर्य, आर्येतर सम्पर्कों में आने के बाद, पूजा और भक्ति का समर्थन करने लगे। अध्यात्म, पुनर्जन्म, कर्मवाद, संस्कार तथा त्योहार, व्रत और अनेक लौकिक आचार-विचार में, कृषि एवं पशुपालन का अप्रत्यक्ष योगदान है। उदाहरणार्थ, जांत, सिल, मूसल, हल, खेत की मिट्टी, धान का लावा आदि या तो कृषि-उपकरण है या कृषि-उत्पाद्य। विवाह, एक संस्कार है। इसके अनेक सांस्कारिक कृत्यों के क्रम में, उपरोक्त सभी का उपयोग होता है और आज़ भी, वैज्ञानिक दृष्टि की सम्पन्नता के बावजूद, इन प्रथाओं में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

वैदिक देववाद और हिन्दू देवी-देवता– विष्णु और रुद्र का कायाकल्प

वैदिक देववाद अत्यन्त उलझा हुआ विषय है। वैदिक कवि, जिस देवता की प्रार्थना करता है, उसमें समस्त विश्व को देखता है, उसे समस्त विश्व की संरचना से संयुक्त करके देखता है। इस प्रक्रिया में, प्रत्येक देवता—धरती, आकाश तथा अपने ही समान अनेक देवताओं का जन्मदाता या प्रतिष्ठापक हो जाता है। इस प्रकार सभी देवता, एक दिव्य ज्योति के, एक ज्वाला के स्फुलिंग है और प्रत्येक स्फुलिंग में वह ज्वाला वर्तमान है। यह बिन्दु में सिन्धु की संरचना जैसा विधान है। वैदिक देववाद एक 'एब्सट्रैक्ट आर्ट' जैसा है जिसमें कोई भी आकृति स्पष्ट नहीं है किन्तु, प्रत्येक धुंधली आकृति, पूरी तस्वीर का भ्रम पैदा करती है। उदाहरणार्थ, आकाश और धरती की संरचना से उस 'दर्भ' नामक घास का भी सम्बन्ध है जिसकी आराधना अथर्ववेद (१९.३३) में की गई है। लगभग एक दर्जन देवता, क्रमशः धरती-आकाश का सृजन करते हैं, सूर्य को उत्पन्न करने या आकाश में स्थापित करने का श्रेय इससे भी अधिक देवताओं को दिया गया है। केवल इन्द्र ही नहीं अग्नि भी, अंधकाररूपी असुरों का नाश करते हैं, अग्नि भी सोमपान करते हैं, अग्नि भी वृत्र का वध करते हैं। अग्नि, पृथ्वी में ही विविध रूपों में वास नहीं करते वरन् इनका निवास जल, विद्युत तथा सूर्य में भी है। देवी अदिति, न केवल आदित्यों को, बल्कि देवताओं और मनुष्यों को भी उत्पन्न करती है, आकाश तथा वायु की जन्मदात्री भी वही हैं। प्रजापति सर्वोच्च देवता ही नहीं विश्व के सर्वस्व हैं (ऋ० १०.१२१.८-१०)। इसी प्रकार वाग्देवी (ऋ० १०.१२५ सूक्त) आदित्य, मित्र वरुण, इन्द्र, अग्नि तथा अश्विनों को धारण करती हैं। सूर्य के विविध रूपों और गुणों को व्यक्त करने वाले—सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषन् तथा विष्णु ही नहीं, वे आदित्य भी हैं जिनकी संख्या ऋग्वेद में सात-आठ से शुरू होकर ब्राह्मण ग्रन्थों में बारह हो गई है। 'सहस्राक्ष' केवल रुद्र (अथर्व० ११.२.२७) ही नहीं, वरुण (ऋ० ७.३४.१०) तथा अग्नि (ऋ० १.७९.१२) आदि भी हैं।

आर्यों का यह देव-समूह, स्थिर नहीं रह सका। ऋग्वेदोत्तर काल में कुछ देवता, समय के अन्धकार में कहीं खो गए, कुछ आर्येतर प्रभावों के कारण, नव विकसित देवताओं की भीड़ में, अपनी पहचान खो बैठे। जन-प्रवृत्ति ने, ऋग्वेद के महान देवताओं को झिंझोड़ कर रख दिया। आर्यों के सर्वोच्च राष्ट्रीय देवता इन्द्र—जिनकी महानता की ख्याति, ऋग्वेद के लगभग ३०० सूक्तों में की गई है और यह संख्या ऋग्वेद के समस्त सूक्तों के चतुर्थांश से भी अधिक है—सबसे अधिक तिरस्कृत हुए। वह भी इस तरह, कि परवर्ती काल में उन्हें, केवल उनके तथाकथित दुराचरण और दुर्वृत्ति के लिए ही, स्मरण किया जाने लगा। यह राजाओं

एवं पुरोहितों के प्रति तत्कालीन जन-समाज का आक्रोश था जिसने महान राजा इन्द्र को अस्तित्वहीन बना दिया। दूसरे महान देवता तथा अवेस्ता के अहुरमज्दा के प्रतिरूप एवं 'ऋत' के अधिष्ठाता वरुण भी अपनी प्रतिष्ठा को स्थिर नहीं रख सके। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से छोटे-बड़े देवता भी, नये देववाद में, नेपथ्य में ही रह गए, उन्हें मंच पर आने का अवसर ही नहीं मिला।

जिन देवताओं का कायाकल्प हुआ उनमें विष्णु और रुद्र-शिव का प्रमुख स्थान है। दोनों के वैदिक व्यक्तित्व की बहुत सी रेखाएँ मिटा दी गईं। वे नये विकल्पों में सामने आए। अपने वैदिक व्यक्तित्व में विष्णु एक आदित्य मात्र हैं। नये विष्णु, जिनका विकास अवतारवाद के माध्यम से किया गया, उनके समानधर्मी भी नहीं थे। प्रिर्जीलुस्की (पूर्वोक्त—'जाति प्रथा') की यह धारणा है कि विष्णु नाम की उत्पत्ति गैर भारोपीय है। संभवत: वे आदिम द्रविड़ों से सम्बन्धित हैं। विष्णु के अवतारों के कुछ सूत्र तो आर्येतर जातियों के 'टोटेमिक' प्रतीकों से ग्रहण किए गए और कुछ विष्णु तथा अन्यान्य देवताओं के लिए, वेदों में प्रयुक्त बिम्बों, प्रतीकों अथवा विशेषणों से। पहले कहा जा चुका है कि आदिम औष्ट्रिक जातियों में 'मत्स्य', 'कच्छप' जैसे 'टोटेमिक' अथवा प्रतीकात्मक सूत्र वर्तमान थे। विष्णु की विशेषता उनके 'उरुगाय' (विस्तृत पाद-प्रक्षेप) अथवा 'उरुक्रम' में है। वह पाद-प्रेक्षप जिससे वे पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश को नापते हैं—सूर्योदय, मध्याह्न एवं सूर्यास्त का प्रतीक है (निरुक्त १२.१९)। अन्य व्याख्याएँ भी हो सकती हैं। वैदिकोत्तर साहित्य में, विष्णु के अस्त्रों में घूमता हुआ 'चक्र' तथा उनके वाहन 'सुपर्ण' अथवा 'गरुत्मत्' का भी उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति को 'कच्छप' कहा गया है (शतपथ-७.४.३.५)। मनु और मत्स्य का संदर्भ भी है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रजापति वाराह रूप में, जल से पृथ्वी को ऊपर उठाते हैं। 'मानव-व्याध्र' का उल्लेख, वाजसनेयि और शतपथ दोनों में है। इनके विपरीत, ऋग्वेद में 'वाराह', रुद्र, मरुद्गण तथा वृत्र की लाक्षणिक उपाधि ही हैं। इस प्रकार, अनेक संदर्भों में विष्णु के अवतारों की व्यूह-रचना की गई। विष्णु के तीन पगों के संदर्भ में, ब्राह्मण ग्रन्थों में विभिन्न कथाएँ भी मिलती हैं। वैदिक साहित्य में 'टोटेम' के चिन्ह भी मिलते हैं जैसे, मत्स्यगण, अजगण, शिग्रु गण (शिग्रु =सहिजन)। वैदिक पुरोहितों के नाम भी उसी ओर संकेत करते हैं—यथा, गोतम (वृषभ) वत्स (बछड़ा), शुनक (श्वान) कौशिक (उलूक) तथा माण्डुकेय (मेढक) आदि (वैदिक माइथोलॉजी)। विष्णु के अवतार, सृष्टि के रूपक भी हो सकते है। सृष्टि की यह विकास-यात्रा, जल जीवों से लेकर, जल-स्थलीय तथा स्थलीय जीवों तक चलती है। मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृ-सिंह, वामन (लघु मानव), परशुराम (उग्र मानव), राम (शक्ति), कृष्ण (सौन्दर्य) तथा बुद्ध (निवृत्ति), इस विकास-यात्रा के विभिन्न पड़ाव हैं।

वेदों में रुद्र का व्यक्तित्व झंझा, अशनि एवं अग्नि का सम्मिलित व्यक्तित्व है। रुद्र को सौम्य, उग्र एवं विकृत तीनों रूपों में स्मरण किया गया है। ऋग्वेद में वे वेणीयुक्त केश रखते हैं, स्वर्णालंकारों से सुसज्जित हैं, नीली ग्रीवा, ताम्र वर्ण तथा सुन्दर अधरों वाले, सूर्य के समान प्रकाशित एवं स्वर्ण की तरह प्रदीप्त हैं। अथर्ववेद में वे सहस्राक्ष हैं, एक पेट, एक मुख, एक जिह्वा तथा एक दाँत वाले हैं। इनकी पीठ रक्तवर्ण और पेट कृष्णवर्ण है। रुद्र के प्रति ऋषियों के मन में श्रद्धा के स्थान पर भय का भाव ही अधिक है। ये मानव का वध करते हैं (आश्वलायन गृह्यसूत्र- ४.८.३२)। महादेव के नाम से इन्हें मवेशियों का वध करने वाला कहा गया है (तांडय महाब्राह्मण-१.७.३.१)। वाजसनेयि संहिता (१६.२०-२१) में ये तस्कर, छली, कपटी तथा डाकुओं के अधिपति हैं। ज्वर आदि रोगों से त्रस्त करने वाले है (अथर्ववेद ११.२.२२-२६)। अन्यत्र उपचार, और उपशमन के लिए भी इन्हें स्मरण किया गया है। ये 'त्रयंबक' (तीन माताओं वाले अथवा तीन नेत्रों वाले) हैं। वाजसनेयि संहिता (३.५) में रुद्र की बहन 'अम्बिका' है जो वेदोत्तर काल में शिव की पत्नी कही गई हैं। शिव की पत्नी के रूप में उमा और पार्वती का नाम तैत्तिरीय आरण्यक और केन उपनिषद् में आता है। वाजसनेयि में ही रुद्र के शर्व और भव नामों के अतिरिक्त अग्नि, ईशान, महादेव उग्रदेव आदि अन्य नाम भी आए हैं। रुद्र, मरुद्गणों के पिता हैं।

रुद्र के व्यक्तित्व की कुछ विशेष बातें दृष्टव्य हैं। आर्यों के देवताओं का निवास पूर्व दिशा में है और ये उत्तर दिशा के वासी हैं। यजुर्वेद में ये नये नाम 'शिव' के रूप में प्रगट होते हैं। रुद्र की 'शिव' उपाधि, अथर्ववेद तक किसी देवता की उपाधि नहीं है। किसी भी वैदिक संस्कार में देवताओं को अर्पित हवि का अवशिष्ट भाग ही इन्हें समर्पित किया जाता है। सूत्रों (गोभिल १.८.२८, आपस्तंब २.४.२३) में इनके गण, वध्य प्राणियों का रक्त, दैत्यों की भाँति प्राप्त करते हैं। इन्हें दैत्यों से विमुख कभी नहीं दिखाया गया। शिव को अनार्य देवता मानने के सम्बन्ध में, भी अनेक विद्वानों द्वारा तर्क प्रस्तुत किए गए हैं। ऐसा लगता है कि वेदोत्तर काल में शिव का प्रवेश, नये देववाद में भी मुश्किल से हुआ। विरोध और तनाव की स्थिति में ही, ऋषियों की स्वीकृति मिली। इसी प्रकार गणपति गणेश को जन-गण के देवता होने के नाते प्रवेश मिला। पुराणों के प्रसंगों से विदित होता है कि शैव मत को बहुत समय तक, मुख्य धारा में सम्मिलित नहीं होने दिया गया।

आर्यों के देव-समूहों के बीच, देवियों का होना भी स्वाभाविक है। 'अम्बिका' तथा परवर्ती काल की 'उमा' तथा 'पार्वती' की चर्चा की जा चुकी है। अन्य देवियों में महत्वपूर्ण देवी 'उषा', सूर्य की जन्मदात्री है, तारों से भरी 'रात्रि' उनकी बहन

है, 'वाच्' वाणी का मूर्तीकरण है, 'पुरन्ध्री', समृद्धि की देवी है तथा 'इला', घृत और दुग्ध से सम्बन्धित तथा अग्नि की माता है। इला को 'इड़ा' के नाम से गाय से सम्बद्ध किया गया बाद में यह 'मही' तथा 'भारती' से मिलकर त्रयी का निर्माण करती है। 'कुहू', नव चन्द्रमा की द्योतक है, 'सिनीवाली', देवों की बहन और सन्तान-दात्री है। इनके अतिरिक्त मरुतों की माता 'पृष्नि' है, त्वष्टा की पुत्री 'सरण्यू' है और 'इन्द्राणी', 'रुद्राणी', तथा 'अश्विनी' (सूर्या) आदि देव-पत्नियाँ हैं। संभवत: सोम-यज्ञ में इन सब देवियों को कोई भाग नहीं मिलता। यह पितृ-प्रधान समाज की विशेषता हो सकती है। परवर्ती काल में शाक्त धर्म के विकास में इनमें कुछ को काल्पनिक रूप-गुण के साथ प्रस्तुत किया गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक ऐसी कथाएँ है जिनके संकेत ऋग्वेद में नहीं हैं। ये कथाएँ प्राचीनतम स्रोतों से ग्रहीत हैं और अधिक विकसित रूपों में मिलती हैं। पौराणिक विकास की धारा तथा ऋग्वेद के बीच, ये कथाएँ एक सेतु का कार्य करती हैं।

विश्व की संरचना और परम तत्व, पुनर्जन्म और कर्मवाद–अनार्ष प्रभाव

वेदों में सृष्टि सम्बन्धी प्राय: सभी व्याख्याएँ 'पितृत्व' के अभिप्राय में हैं जो पितृ प्रधान समाज के अनुकूल हैं। पिता ही वंशजों का जनक है और वही निर्माता भी है। ऋग्वैदिक कवि पूछता है, वह कौन सी लकड़ी है जिससे देवताओं ने आकाश और पृथ्वी का निर्माण किया (१०.३१.७)। इसका उत्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.८.९.६) यह कहकर देता है कि 'ब्रह्म' ही वह लकड़ी और वृक्ष है। पृथिवी और स्वर्ग स्तम्भों पर टिके हैं किन्तु आकाश आश्चर्यजनक रूप से स्थूण-विहीन है। घटना के पूर्ववर्ती और परवर्ती क्रम को देखते हुए यह कहा गया कि उषा, सूर्य की जन्मदात्री है। आधार को ध्यान में रखकर कहा गया—तरकस ही वाणों का पिता है। प्रधानता को महत्व देते हुए वायु को झंझावत के देवों का पिता कहा गया। इसमें अमूर्त को भी सम्मिलित किया गया है जैसे, देव, अमरता के पुत्र हैं। इन सभी व्याख्याओं में 'पुरुष-सूक्त' प्रधान है। इसी में यह कहा गया है कि जो कुछ है अथवा आगे होगा वह सर्वस्व यही 'पुरुष' है (१०.९०.२)। ध्यान देने की बात है कि सृष्टि सम्बन्धी इन व्याख्याओं से उस कथातंत्र का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है जो पुराणों में विकसित हुआ है।

सृष्टि सम्बन्धी दार्शनिक व्याख्याएँ जो बाद में (विशेषतया उपनिषदों में) बाह्य प्रभावों के कारण विकसित हुई हैं, सूत्र रूप से ऋग्वेद के दसवें मण्डल से प्रारम्भ होती हैं। ऋग्वेद के प्राचीन अंशों से तो यही विदित होता है कि सूर्य ही सर्वोच्च स्थान का अधिकारी है (१.१६४.४६)। दसवें मण्डल (-१२१.३) में ही

सूर्य को हिरण्यगर्भ के नाम से विश्व की महान शक्ति का रूप प्रदान किया गया जो बाद में ब्रह्म की अवधारणा का कारण बना। असत् से सत् की उत्पत्ति भी इसी मंडल में है जहाँ यह कहा गया कि असत् (अस्तित्व हीन) से सत् (अस्तित्वयुक्त) की रचना हुई। फिर, क्रमानुसार पृथ्वी, दिशाएँ और दक्ष सहित अदिति की उत्पत्ति हुई (सूक्त ७२)। इसी प्रकार सूक्त १२९ के अनुसार आरंभ में महाशून्य था और किसी का भी अस्तित्व नहीं था। इस महाशून्य और अंधकार ने अविभेद्य जल को ढक रखा था। उसी समय 'तप' द्वारा 'एकम्' की उत्पत्ति हुई। इसके बाद 'मनस्' का बीज 'काम' उत्पन्न हुआ। यही असत् से सत् के बीच की शृंखला है। सूक्त १९० में तपस् से 'ऋत्' की उत्पत्ति कही गई, इसके बाद इस ऋत् से रात्रि, सागर और वर्ष की। विधाता (धाता) ने सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, वायु तथा अंतरिक्ष आदि को उत्पन्न किया। इसी अस्तित्वहीन् (असत्) से अस्तित्व (सत्) की उत्पत्ति की व्याख्या का विस्तार, ब्राह्मण ग्रन्थों से लेकर उपनिषदों तक में हैं जहाँ, आद्य, अभेद्य जल पर तैरते हुए हिरण्यगर्भ (स्वर्ण अंड) से, उस आत्मा की उत्पत्ति कही गई है जो सृष्टि की कामना से युक्त है। छान्दोग्य ब्राह्मण ५.१९, छान्दोग्य उपनिषद ३.१९.१-४ तथा बृहदारण्यक उपनिषद (५.६.१) में सृष्टि का विकास-क्रम इस प्रकार है—प्रारम्भ में पूरा विश्व जलमय था, इससे सत्यम् की उत्पत्ति हुई, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से देवगण। पहले कहा जा चुका है कि अण्डे के रूप में विश्व (ब्रह्माण्ड) की कल्पना आग्नेय जातियों की है जो विकासक्रम में आर्येतर जातियों के माध्यम से आर्यों को प्राप्त हुई। 'ब्रह्म' का विकास तो उपनिषद काल में ही संभव हुआ।

आर्यों ने परम-तत्व पर विचार कर, सम्पूर्ण सृष्टि की नियामक सत्ता 'सत' पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की। यह 'सत्' एक ही है जिसे ज्ञानवान् अग्नि, यम और मातरिश्वान् आदि विविध नामों से संबोधित करते हैं—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातारिश्वानमाहु:
(ऋ० १.१६८.४६)।

इसी 'सत्' को हिरण्यगर्भ, प्रजापति और विश्वकर्मा नाम से कई रूपों में प्रगट किया गया और छान्दोग्य उपनिषद (१.७.५) में 'पुरुष सूक्त' के पुरुष को 'ब्रह्म' से सम्बन्धित किया गया। वृहारण्यक उपनिषद् (५.६.१) में सत् से 'ब्रह्म' की उत्पत्ति बताई गई। परम तत्व के रूप में 'ब्रह्म' को अनेकश: परिभाषित करने का कार्य उपनिषदों का है। इस 'ब्रह्म' का प्रेरणा स्रोत, आर्येतर है जहाँ, यह अतिमानवीय शक्ति या मन के प्रभाव के रूप में था। पार्जिटर के अनुसार 'ब्रह्म' की मूल भावना 'मन' से सम्बन्धित है।

भारतीय संस्कृति में पुनर्जन्म का सिद्धान्त, भारतीय जीवन के विविध आयामों को प्रभावित करता है। यह, पाप-पुण्य, परलोकवाद तथा कर्म के सिद्धान्त

से जुड़ा है। इसके प्रभाव का विस्तार बहुत अधिक है। मेकडॉनेल (वैदिक माइथोलॉजी) का कहना है कि वेदों में पुनर्जन्म के संकेत नहीं मिलते। वास्तव में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत ब्राह्मण-ग्रन्थों से मिलने लगते हैं। उपनिषदों में व्यापक रूप से इसका विकास हुआ है। निश्चय ही यह आर्येतर संस्कृति के प्रभाव से हुआ है। परलोकवाद भी ऋग्वेद का विषय नहीं है। प्रेतात्मा, अभिचार तथा मृत्यु के बाद का जीवन अथर्ववेद में है। ऋग्वेद में इस तरह के संकेत विशेषतया दसवें मण्डल में हैं। इसी के सूक्त ५८ में मृतवत् पड़े व्यक्ति के 'मनस्' (आत्मा) को, जो बाहर भटक रहा है, शरीर में लौट आने की प्रार्थना की जाती है। ऋग्वेद में शवों को गाड़ने (१०.१८.१०-१३) के कम, किन्तु जलाने के पर्याप्त संदर्भ मिलते हैं। अग्निपूजक आर्यों का यह विश्वास था कि अग्नि, एक पक्षी की तरह, शव को परलोक में, द्युस्थानीय, पितरों एवं देवों के पास ले जाते हैं वहाँ वह पितरों के साथ देवत्व को प्राप्त हो जाता है। एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि आत्मा जल और पौधों के पास चली जाती है (१०.५८.७)। पुनर्जन्म का उद्घाटन शतपथ ब्राह्मण (१०.४.३.१०) में होता है जहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जिसका विधिवत संस्कार नहीं होता, मृत्यु के बाद वे पुन: जन्म लेते हैं और बार-बार जन्म लेते हैं। 'प्राण' और 'आत्मन्' वेदों में पहले 'वात' के आशय में प्रयुक्त हुए हैं। चेतना को व्यक्त करने के लिए, 'असु' (दैहिक शक्ति) और 'मनस्' (विचार और संवेग) हैं जिन्हें ऋग्वेद में 'हृद' (हृदय) में स्थित माना गया है। 'कर्मवाद' का समर्थन उपनिषदों में प्रत्यक्ष हुआ है जहाँ यह कहा गया है कि कर्म का फल भोगने के उपरान्त, जीव पृथ्वी पर पुन: जन्म लेता है। ऋग्वेद में स्वर्ग का बड़ा मोहक वर्णन है। इस स्वर्ग में पितर और यम, देवताओं के साथ निवास करते हैं। नरक की कल्पना ऋग्वेद में नहीं है। अथर्ववेद में 'नारकं लोकं' की कल्पना, स्वर्ग के प्रतिकूल की गई है। ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में 'आत्मा', 'ब्रह्म', 'पुनर्जन्म' तथा 'कर्मवाद' आदि का विकास बाह्य प्रभावों के कारण हुआ है। पुराणों ने इन विषयों को मिथकीय कल्पनाओं के साथ व्यापक रूप से प्रस्तुत किया है और उपनिषदीय व्याख्या ने, भारतीय दर्शन को विकास और विस्तार दिया है।

अनार्ष प्रवृत्तियों का विस्तार

भारत की सांस्कृतिक चेतना को स्पर्श करने वाले कुछ अन्य विषयों की चर्चा भी आवश्यक हैं। वैदिक ग्रन्थों में जलाशयों की, जल की तथा नदियों की प्रशस्ति है और यह प्रशस्ति ऋग्वेद में भी कम नहीं है। कहा जाता है जल की पवित्रता प्राक्वैदिक है, आर्यों से पहले की है। इसका जीवात्मा और उर्वरता से गहरा सम्बन्ध है। जे० एच० हटन ने अनेक जन-जातियों का उल्लेख किया है जो हिन्दू नहीं है फिर भी मृतक की अस्थियों को जल में प्रवाहित करते हैं। तीर्थों

के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह प्रथा भी अनार्य-स्रोतों से ग्रहीत हुई है। हिन्दुओं के जितने भी प्रसिद्ध तीर्थ हैं वे सभी 'ब्रह्मावर्त' अर्थात् आर्यों के मूल निवास-स्थान से बाहर हैं। इससे पता चलता है कि आर्यों के पहले ही 'तीर्थ' यहाँ के पुराने धर्म में प्रतिष्ठित थे। आर्यों का सम्मिलन-स्थल यज्ञ था और अनार्यों का तीर्थ। यह 'तीर्थ' शब्द भी वेद-बाह्य है क्योंकि वेद विरोधी मत को 'तैर्थिक' मत कहा जाता है (संस्कृति-संगम-क्षि० मो० सेन)। नदियों की पवित्रता, आर्यों से पहले प्रचलित थी और गंगा आदि का माहात्म्य भी।

गृह्य सूत्रों और स्मृति-ग्रन्थों में लगभग चालीस संस्कारों की चर्चा है। भारतीय संस्कृति में, संस्कार, पुरुषार्थ, आश्रम तथा वर्ण-व्यवस्था आदि का बड़ा योगदान है। इनको लेकर स्मृतियों आदि के बाद भी, प्रचुर संख्या में 'निबन्ध' ग्रन्थ लिखे गए। 'मिताक्षरा' के बाद भी जीमूतवाहन का 'दाय-भाग', विश्वनाथ का 'व्रत-प्रकाश', नील कंठ का 'व्यवहार-मयूख' तथा रघुनंदन के निबन्धों की चर्चा है। ये सभी निबन्ध, आचरण, संस्कार तथा सामाजिक नियमों की व्याख्या के साथ-साथ स्थानीय लोकाचारों का भी वर्णन करते हैं। हिन्दू संस्कारों को संवारने में पुराणों के बाद, इन निबन्ध-ग्रन्थों ने महत्वपूर्ण काम किया है।

ब्रह्मर्षि देश, जहाँ आर्य-धर्म और आदिम हिन्दू धर्म का समन्वय हुआ, इसके पहले दोनों धर्म, एक दूसरे के विरोधी धर्म के रूप में थे। कुमारिल और मेधातिथि स्वीकार करते हैं कि स्मार्त धर्म में अनेक अवैदिक तत्व हैं। गौतम धर्म सूत्र में जिन चार आश्रमों का उल्लेख हैं, उनमें मात्र गृहस्थाश्रम ही वेदों में था (वैदिक एलीमेन्ट्स इन ब्रह्मनिज्म-राम प्रसाद चन्द्रा, संदर्भ-भारत में जाति प्रथा)। राम प्रसाद चन्द्रा का यह भी दावा है कि उपनिषद् और स्मृतियाँ प्राक्वैदिक रूप पर बनी है। पंचरात्र और पाशुपत सम्प्रदाय को कुमारिल ही अवैदिक मानते हैं (वही)।

भारतीय संस्कृति की व्याप्ति विविध कलाओं में भी है। मूर्तिकला के रूप में, देवताओं की आकृतियों, वाहनों तथा मुद्राओं का अंकन, कम से कम वैदिक परम्परा में नहीं है। मौर्य शासन काल में यूनानी प्रभाव से, तत्कालीन काष्ठ-शिल्प ने प्रस्तर-शिल्प का रूप धारण किया था। सिन्धु सभ्यता के मूर्ति-शिल्प का सम्बन्ध वेदों से नहीं, वेदोत्तर काल से जुड़ता है। आर्य लोग मूर्तिपूजक नहीं थे। इस सम्बन्ध में केवल एक उल्लेख है जहाँ, इन्द्र की मूर्ति (ऋ० ४.२४.१०) को दस गायों के बदले, क्रय करने की बात है। प्रतिमाओं का उल्लेख ब्राह्मणों और सूत्र-ग्रन्थों के बाद मिलता है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक देवी-देवता, उनके आयुध, उनके वाहन आदि उन जातियों के हैं जिनके बीच उनकी रूपाकृतियों की कल्पना की

गई थी। वेदों में कुछ वैदिक देवताओं के रथों एवं उनके वाहनों का उल्लेख है जिन्हें कुछ परिवर्तनों के साथ हिन्दू धर्म में स्वीकृति मिली है।

भारतीय संस्कृति - सीमान्तहीन सामासिक संस्कृति

भारतीय संस्कृति, उत्तरोत्तर विकसित होने वाली एक परम्परा है जो पुराने को छोड़े बिना, नये को ग्रहण करती हैं। समन्वय उसका स्वभाव है। आर्यों के बाद भी, इस देश में शक आए, हूण आए, यवन आए, तुर्क आए और योरोपीय देशों से फ्रेन्च, डच और अंगरेज आए। सबने अपनी-अपनी संस्कृति के एक या दो या चार वाक्य लिखकर, भारतीय संस्कृति के 'आटोग्राफ बुक' पर अपने लघु या पूर्ण हस्ताक्षर कर दिए। अब, यह इतिहास का विषय है कि इनके योगदान को पृथक्-पृथक् समीकृत किया जाय। आज जो अपसंस्कृति का आसन्न संकट है उसके अनेक स्वरों में प्रमुख स्वर 'अश्लीलता' का है। परन्तु भारत के लिए यह कोई नई बात नहीं है। पहले जो अश्लीलता, पर्दानशींन की तरह, पुराणों, मूर्तियों तथा कलाओं में पर्दे के पीछे से झाँकती थी, अब पाश्चात्य प्रभावों के कारण, खुलकर बाहर आने की कोशिश कर रही है। अन्तर है तो केवल इतना कि पहले इन सब पर धर्म और दर्शन का झीना आवरण रहता था, अब वह भी हटने लगा है। पुराणों की अनेक कथाएँ, कोणार्क और खजुराहों की मिथुन-रत मूर्तियाँ यदि विद्रोह करने लगी हैं तो यह जिम्मेदारी भी भारतीय समाज की है जिसने नारी को सदियों से काम और सौन्दर्य का प्रतीक बनाकर रखा था। अब, इस अपसंस्कृति के प्रवाह से बचने के लिए, समाज को ही सबसे पहले सुसंस्कृत होना पड़ेगा।

भारतीय संस्कृति का विस्तृत प्रभावलय सबको चकाचौंध से भर देता है। विश्व की सभ्यताओं में इसकी अपनी विशिष्ट भूमिका है। इस संस्कृति की कोई राजनैतिक सीमा नहीं है। बृहत्तर भारत भी इसका सीमान्त नहीं। विश्व की सभी संस्कृतियाँ इसी से अपना पाथेय ग्रहण करती रही हैं। यह सामासिक संस्कृति है जिसमें सभी कुछ जुड़ता है, एकाकार हो जाता है।

●

वेदों की कविता—प्रार्थना के स्वरों में गूंजता जीवन-संगीत

वेदों में ज्ञान-विज्ञान, धर्म तथा अध्यात्म आदि के साथ, काव्य का जो स्फुरण है वह, आज तक प्राप्त, विश्व की सभी काव्यात्मक अभिव्यक्तियों में, प्राचीनतम है।

वेदों से लेकर, उपनिषदों तक का जो काव्य-साहित्य है उसे 'आर्ष-काव्य' कहा जाता है क्योंकि यह ऋषियों की सृष्टि है। भारतीय विद्वानों का विश्वास है कि वेदों की ऋचाएँ (काव्य-पंक्तियाँ) ही नहीं बल्कि, उपनिषदों का भी प्रत्येक शब्द, ब्रह्म के मुख से निकला हुआ निर्भ्रान्त ज्ञान है। वे यह मानते है कि वेद की ऋचाएँ ऋषियों द्वारा देखी और अनुभव की गई हैं। वेदों की कविता रूपक-प्रधान है। इसमें बिम्बों, प्रतीकों एवं मूर्तीकरण की विशेष प्रवृत्ति है साथ ही, गीति-काव्य की भाँति, इसमें संक्षिप्तता भी है। लौकिक काव्य का प्रारम्भ वाल्मीकीय रामायण से माना जाता है। यह लौकिक काव्य, वैदिक काव्य की अपेक्षा, अतिशयोक्तिपूर्ण एवं वर्णनात्मक है।

कविता, सामान्य अभिप्राय में, मनुष्य की भावनाओं का प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) है और इसके माध्यम हैं—शब्द। ये 'शब्द' ही कवियों की शक्ति हैं। सभ्यता और संस्कृति के विकास-मार्ग पर, शब्दों का कारवाँ आदिकाल से चला आ रहा है। इस यात्रा में, विभिन्न संस्कृतियों की टकराहट, संघर्ष और संतुलन की स्थिति से, शब्द भी प्रभावित होते रहे हैं। कुछ शब्द, जो अपने परिवेश से, विशेष रूप से जुड़े थे, नये परिवेश में आकर सब से अपरिचित रह जाते हैं। इसके विपरीत कुछ विदेशी अथवा विस्थापित शब्द, इस कारवाँ में अपना स्थान बना लेते हैं। कुछ का 'काया-कल्प' हो जाता है। वे, या तो अपने अर्थ में सीमित रह जाते हैं या उनका अर्थ-विस्तार हो जाता है, वे शक्तिवान् हो उठते हैं। वेदों की कविता और आज की कविता के बीच, लगभग तीन-चार हजार वर्षों की एक लम्बी काल-शृंखला है। इसलिए, दोनों को आमने-सामने लाने में, सबसे बड़ी कठिनाई शब्दों की हैं।

वेदों को समझने में, शब्दों की यह कठिनाई बहुत पहले से है। वस्तुतः, वेदों के मंत्रों की अनेक व्याख्याएँ हैं, प्रारम्भ से रही हैं। विभिन्न युगों में, नवीन व्याख्या-सम्प्रदायों का उदय होता रहा हैं। धर्म, अध्यात्म, रहस्यवाद, ज्ञान-विज्ञान, भाषा तथा अपनी काव्य-सम्पदा के कारण, वेद, हमेशा विद्वानों को अपनी ओर आकर्षित करते रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों की नये ढंग से व्याख्या की। आधुनिक काल में, महर्षि अरविन्द (हिम्स टु दी मिस्टिक फायर) की व्याख्या गूढ़ अध्यात्म की ओर ले जाती है। डॉ० आनन्द कुमार स्वामी (ए न्यू एप्रोच टू वेदाज), वेदों के बिम्बों, प्रतीकों एवं मूर्तीकरण में, रहस्यमयी काव्य-परम्परा का अन्वेषण करते हैं।

वैदिक साहित्य, वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों से लेकर, वेदाङ्गों आदि तक, एक दीर्घकालीन अध्ययन-परम्परा का स्मरण कराता है। परम्परागत व्याख्या-विश्लेषण का विस्तार तो और भी अधिक है। वेदों में, ऋग्वेद ही मुख्य है। ऋग्वेद के सूक्तों का, एक सीमा तक, तीनों वेदों में समावेश है। 'अथर्ववेद', में, ऋग्वेद के सूक्तों का सातवाँ भाग, 'यजुर्वेद' में इससे कुछ अधिक तथा 'सामवेद' में कुल १५४९ मंत्रों में, मात्र ७५ मंत्र सामवेद के अपने हैं, शेष सभी ऋग्वेद के हैं। वेदों को छोड़कर, शेष सम्पूर्ण वैदिक साहित्य वेदों का ही 'उपजीव्य' है। वेदों की प्रत्येक शाखा की अनेक टीकाएँ हैं जिनमें मूल अर्थ की अपेक्षा, विशेष अर्थ के उद्घाटन की प्रवृत्ति विशेष दिखाई पड़ती है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की ऋचाएँ ही महत्वपूर्ण हैं। इनकी काव्य-चेतना बहु-आयामी है। इनमें धर्म, दर्शन, कर्मकाण्ड तथा लोक-जीवन के तत्व, कुछ इस प्रकार मिले जुले हैं कि इनको अलग-अलग कर समझना आसान नहीं है। वेदों की कविताओं की रचना-शैली गीतों जैसी है। प्रत्येक गीत को 'सूक्त' कहा गया है। इन गीतों में एक या विच्छिन्न छंदों में, दो या अधिक चरणों वाली कई ऋचाएँ या मंत्र (पद या पंक्ति) सम्मिलित हैं। पहली दृष्टि में ये गीत, प्रार्थनाएँ ही प्रतीत होते हैं किन्तु, इनकी गहराई मे प्रवेश करते ही, जीवन के विविध रूप और आयाम स्वतः प्रगट होने लगते हैं। ये तत्कालीन कवियों के स्वाभाविक उद्‌गार हैं जो लोक-गीतों जैसी सादगी लिए हुए हैं। इनमें किसी प्रकार के काव्यात्मक श्रम अथवा संघर्ष का अभाव है। ये गीत, प्रकृति तथा जीवन के सभी दरवाजों पर दस्तकें देते हैं। इनमें, वे समकालीन संदर्भ हैं जिनसे कविता के साथ यथार्थ का साक्षात्कार हुआ है। प्रकृति की वे शक्तियाँ हैं जो भय पैदा करती हैं, आकर्षित करती हैं साथ ही श्रद्धा और आराधना के भाव भी जगाती हैं। वह मानव-जीवन है जिसमें सहयोग है, संतुलन है, ममत्व है। साथ ही, उसमें वर्जनाएँ है, द्वन्द्व है, प्रेम है तथा थोड़ी-बहुत सामाजिक कुरुपताएँ भी हैं। मेकडॉनेल

(वैदिक माइथोलॉजी), वेदों की कविताओं की परिधि को बहुत व्यापक मानते हैं। इन कविताओं में आकाश, नक्षत्र, पृथ्वी, पर्वत, जलाशय, मनुष्य, पशु-पक्षी, वनस्पतियाँ, क्षुद्र, जीव-जन्तु (यथा-मण्डूक, (मेढक), पिपीलिका (चींटी) तथा कृमि आदि), मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुएँ (यथा-अस्त्र, युद्ध-रथ, ढोल, हल, उलूखल (ओखली), यज्ञीय पात्र तथा अन्य उपकरण), जादू-टोना, वर्जनाएँ (टैबूज़), वशीकरण तथा विनाशक मंत्र, मनुष्य के पारिवारिक रिश्ते, संस्कार, सामाजिक आचरण तथा अन्य प्रतिबद्धताएँ, विपक्षियों के लिए दंड, प्रतिकार तथा अनिष्टकारी प्रार्थनाएँ आदि सभी सम्मिलित है।

एम० विन्टरनित्ज का विचार है कि 'जो सूक्त उपलब्ध हैं वे अति प्राचीन भारतीय कविता के कुछ अंश मात्र हैं। वह प्राचीन साहित्य अत्यन्त विस्तृत था। उस साहित्य में धार्मिक तथा लौकिक दोनों ही विषय थे।' ऋग्वेद संहिता के संकलन के समय, धार्मिक कविताओं के साथ-साथ, जैसा कि उनका कहना है, 'उन शुद्ध लौकिक कविताओं के संग्रह में भी संकोच नहीं किया गया जो अपनी भाषा और छन्द में, यज्ञीय स्तोत्रों से कम प्राचीन नहीं थीं...... ऐसी कविताएँ भी थीं जो अधिक लौकिक थीं, जिसे उन्होंने ऋग्वेद संहिता में संग्रहीत करना उचित नहीं समझा, इनमें से कुछ कविताएँ...... अथर्ववेद संहिता में संग्रहीत हो गईं (प्राचीन भा० सा० का इति० (हिन्दी अनु०) पृष्ठ ८८)।

*　　　*　　　*　　　*

ऋग्वेद में, कवियों को 'ऋषि', 'कवि', 'कीरि', 'क्रीस्त', 'कारु' तथा 'विप्र' कहा गया है। ये सभी नाम रचना-धर्मिता के विविध स्तरों के द्योतक हैं। देव-स्तुति सम्बन्धी गीतों के प्रमुख रचयिता या द्रष्टा को 'ऋषि' या 'कवि' कहा गया है। इनके परिवारों में, उत्तराधिकार से प्राप्त, सूक्तों या गीतों का परिमार्जन या नव-सृजन होता रहा है। ऋग्वेद के प्रमुख ऋषियों में, जिनके वंशजों ने भी सूक्तों की रचना की है, गृत्समद (मंडल-२), विश्वामित्र (मंडल-३), वामदेव (मंडल-४), अत्रि (मंडल-५), भरद्वाज (मंडल-६), वशिष्ठ (मंडल-७) तथा कण्व एवं अंगिरा (मंडल-८) अपने नाम के सामने अंकित मंडलों या सूक्तों के रचयिता माने जाते है। पहले, नौवें तथा दसवें मण्डल के कवि या ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। इनमें समाज के सभी वर्गों एवं आर्येतर जातियों के कवि तथा ऋषिकाएँ या कवियित्रियाँ भी सम्मिलित हैं। अथर्ववेद के कवियों की तालिका में, उपरोक्त कुछ ऋषियों के अतिरिक्त अङ्गिरस, अगस्ति, जमदग्नि, कश्यप, कुत्स, कक्षीवान्, कण्व, मेघातिथि, त्रिशोक तथा उशना आदि प्रमुख हैं।

'कवि' एक बहुप्रचलित शब्द है जो आध्यात्मिक अभिप्रायों को भी प्रगट करता है। 'कीरि' ऋग्वेद में कवि की नियमित उपाधि है। ऋषि के अभिप्राय में

इसके प्रयोग अनेक स्थलों (ऋ० १.३१.१३, २.१२.६ आदि) पर देखे जा सकते हैं। 'क्रीस्त' मात्र दो संदर्भों (ऋ० १.१२७.७, ६.६७.१०) में कीरि की भाँति व्यवहृत हुआ है। 'कारु' शब्द भी प्रायः ऋग्वेद तक ही सीमित है और एकाधिक स्थलों पर इसका, ऐसा प्रयोग हुआ है जिसमें 'कवि-कर्म', भिषज् (वैद्य) आदि व्यवसाय की कोटि में आ जाता है। कवि कहता है-'मैं कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी माँ पीसने ('उपलप्रक्षिणी') का काम करती है (ऋ० ९.११२.३)।' 'विप्र', ऋग्वेद में एक गायक है, परवर्ती काल में एक विद्वान ब्राह्मण और रामायण-महाभारत काल में, केवल ब्राह्मण रह गया है।

कवियों में एक वर्ग उपरोक्त ऋषियों का है जो अपने वंशजों के साथ, देवमंडल के प्रमुख सूक्तों के रचयिता हैं। दूसरे वर्ग में राजा त्रसदस्यु (ऋ० ४.४२.१-१०), राजा ऋषभ (ऋ० १०.१६६ सूक्त), सैनिक पायु (६.७५.१२), दासी पुत्र ऋषि कवष (ऋ० १०.३२, ३३ आदि सूक्तों के रचयिता), नागजातीय इरावत के पुत्र जरत्कर्ण (ऋ० १०.७६ सूक्त) तथा कद्रु के पुत्र नागवंशीय अर्बुद (ऋ० १०.९४ सूक्त) आदि का नाम उल्लेखनीय है। तीसरे वर्ग में, कवियित्रियों अथवा ऋषिकाओं को रक्खा जा सकता है जिनमें कक्षीवान् की पत्नी घोषा (ऋ० १०.१२५ सूक्त), अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा (ऋ० १०.३९.४० तथा १०.१७९ सूक्त), अपाला (ऋ० १०.९१ सूक्त), रोमशा तथा सूर्य पुत्री सूर्या (ऋ० १०.८५ सूक्त) एवं नागकन्या सर्पराज्ञी (ऋ० १०.१८९ सूक्त) आदि प्रमुख हैं। ऋग्वेद के १०-१२५ सूक्त की ऋषिका वाक् है जो अम्भण ऋषि की पुत्री है।

कवियों को अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न माना जाता था। चाहे वे समाज के किसी भी वर्ग से क्यों न हों, मंत्रों की रचना करने के बाद, वे ऋषियों के वर्ग में आ जाते थे। दासी पुत्र कवष के ऋषि बनने की ऐसी ही कथा ऐतरेय ब्रा० (२.१९) में दी गई है।

* * * *

यास्क (निरुक्त) के अनुसार, वैदिक ऋचाओं के तीन प्रकार के अर्थ हैं—सांसारिक (आधिभौतिक), देवतात्मक (आधिदैविक) तथा आध्यात्मिक। कविता, अपने समय के यथार्थ से अधिक प्रेरित होती है इसलिए, काव्य की दृष्टि से सूक्तों या ऋचाओं के अध्ययन में, उनके यथार्थपरक अभिप्राय की ओर, दृष्टि को अधिक केन्द्रित रखना पड़ता है। विषय और शैलीगत विशेषताओं को ध्यान में रखकर, वैदिक कविता के बहु-आयामी स्वरूप को, इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है—

१. देवात्मक या प्रार्थना-प्रधान कविताएँ।

२. संवाद तथा एकालाप।
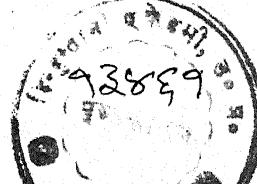
३. प्रकृति तथा जीवन के विशेष संदर्भों वाली कविताएँ।

४. पशु-पक्षी तथा क्षुद्र जीव-जन्तुओं पर लिखी कविताएँ।

५. मिथकीय, रूपकात्मक (एलेगरी), अनेकार्थी तथा प्रतीकात्मक कविताएँ।

६. आभिचारिक तथा वशीकरण आदि से सम्बन्धित तंत्र-मंत्र।

'देवता' शब्द की मूल धातु 'दिव्' है जिसका अर्थ है-दीप्त होना या प्रकाशित होना। वेदों में पृथ्वी, अंतरिक्ष तथा आकाश (द्यु) के सभी देवता, कुछ इस प्रकार तेजोदीप्त है कि उनका सम्बन्ध अंततः 'सूर्य' से ही जुड़ता है। यास्क ने अपने पूर्ववर्तियों (नैरुक्ताः) के मतों के संदर्भ में, केवल तीन ही देवताओं-अर्थात् पृथ्वी में 'अग्नि', अंतरिक्ष में 'वायु' अथवा 'इन्द्र' तथा आकाश में 'सूर्य'—का ही अस्तित्व स्वीकार किया है। पृथिवी स्थानीय— पृथिवी तथा अग्नि, अंतरिक्ष स्थानीय— इन्द्र, पर्जन्य, रुद्र तथा मरुत आदि एवं आकाश स्थानीय—द्यौस, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन, विष्णु तथा आदित्य गण आदि के अतिरिक्त, वेदों के मान्य पुरोहित, पशु-पक्षी, जड़ पदार्थ यहाँ तक कि धार्मिक-आभिचारिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त दर्भ (कुश) को भी देवत्व भाव से देखा गया है।

ऋग्वेद के लगभग २५० सूक्तों अर्थात् सम्पूर्ण सूक्तों के चतुर्थांश में केवल इन्द्र के पराक्रम का ही गुणगान किया गया है। प्रायः उनके महान कार्यों अर्थात् पर्वत पर रहने वाले वृत्र (अहि) का संहार तथा पणियों द्वारा अपहृत गायों की खोज आदि के रूपकात्मक वर्णनों में आकाशीय विद्युत, बादल, वज्रपात तथा जल-धाराओं का समुद्र की ओर प्रवाहन आदि से वर्षा ऋतु के आषाढ़ीय बिम्ब प्रत्यक्ष होने लगते हैं। ऋग्वेद के पहले मंडल के बत्तीसवें सूक्त के रचयिता, अंगिरा ऋषि के परिवार के हिरण्यस्तूप कवि की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

> पर्वतपर निवास था उसका/उस अहि (वृत्र) को इन्द्र ने मारा/
> त्वष्टा ने बनाया था वह प्रबल शब्दायमान वज्र/इन्द्र के लिए/
> बहने लगीं जल धाराएँ/समुद्र में समा जाने को आतुर/रंभाती
> हुई गायें दौड़ती है जिस तरह/अपने बछड़ों से मिलने के लिए।

(ऋचा - २)

गीति-काव्य के आकर्षक उदाहरण पर्जन्य, मरुत, वरुण तथा उषा सम्बन्धी सूक्तों में देखे जा सकते है। सूर्य का वर्णन भी बड़ा कवित्वमय है। कवियों ने बड़ी तन्मयता से सूर्य को देखा है। ऋग्वेद के विविध संदर्भों में सूर्य के कई चित्र उभरते हैं—

> एक वृषभ है यह/शबलीकृत (चित्तीदार) वृषभ (१०.१८९.१)।
> श्वेत अश्व है यह/उषा लेकर आई है इसे (७.७७.३)।

यह मध्य आकाश में स्थित/रत्न है विविध रंगों वाला (५.४७.३)।
इसकी किरणें/अंधकार को फेंक देती है जल में/चर्म पट्ट (चमड़े की पट्टी) की तरह (४.१३.४)।

* * * *

ऋग्वेद में लगभग १५ संवाद हैं जिन्हें नाटक का बीजरूप (प्रोटोप्लाज्म) कहा जाता है। इनमें 'यम-यमी संवाद' (१०-१०) अवैध सम्बन्धों के बहिष्कार और 'पुरुरवा-उर्वशी संवाद' (१०-९५) प्रेम-सम्बन्धों में स्त्री पुरुष के मनोविज्ञान के प्रति सबका ध्यान आकृष्ट करते हैं। प्रथम में यम, अपनी जुड़वा बहन यमी के प्रेम-प्रस्ताव की उपेक्षा कर, उसे अपने मनोनुकूल किसी अन्य पुरुष को स्वीकार कर लेने का परामर्श देता है। ऋग्वेद का यह प्रसंग, अनेक विद्वानों को, अर्थ ही अनेक संभावनाओं की खोज एवं टीका-टिप्पणी के लिए विवश करता है। यह मातृ-ग्रन्थि (ओडिपस काम्प्लेक्स) तथा पितृ-ग्रन्थि (एलेक्ट्रा काम्प्लेक्स) की भाँति ही कोई अन्य मनोग्रन्थि भी हो सकती है।

दूसरे में, उर्वशी, पुरुरवा को छोड़कर जा रही है। पुरुरवा, उससे रुकने के लिए, परस्पर बात-चीत के द्वारा, किसी समस्या के समाधान का अनुरोध करता है। वह यह भी कहता है है कि वह, उसके बिना जीवित नहीं रह सकता। इसी प्रकरण के पन्द्रहवें मंत्र में, पुरुरवा के आग्रह को ठुकराती हुई उर्वशी कहती है—

नहीं पुरुरवा/तुम आत्मघात न करो/न भोजन बनो वृकों
(लकड़बग्घों) का/स्थायी नहीं होती स्त्रियों की मित्रता/
कठोर होता है उनका हृदय/वृकों के हृदय के समान ही।
('न वै स्त्रैणानि सख्यानि सलावृकाणां हृदयान्येता')

एकालाप के प्रकरण कई हैं। सोम के नशे में डूबा हुआ कोई व्यक्ति (संभवतः इन्द्र) प्रलाप करता हैं ऋग्वेद के दसवें मण्डल के इस ११९ सूक्त में कुल १३ ऋचाएँ हैं।

काँपता है वृक्ष/ऊपर उठता हवा के वेग से/ठीक वैसे ही मुझे
सोम ऊपर उठाता/
मैंने कई बार सोमपान किया है। (ऋचा-२)
कहो तो रख दूँ धरती को/उठाकर किसी और जगह/शक्तिवान हूँ मैं/
मैंने कई बार सोमपान किया है। (ऋचा-९)

एकालाप का एक अच्छा उदाहरण है-अक्ष सूक्त (ऋ० १०-३४)। इस सूक्त में कुल १४ ऋचाएँ हैं। जुआड़ी किस प्रकार, अपना सब-कुछ खो बैठता है और

किस प्रकार परिवार तथा समाज द्वारा तिरस्कृत होता है साथ ही इस सम्बन्ध में जुआड़ी की अपनी क्या मन:स्थिति रहती है, इन सभी प्रश्नों का समाधान इस अक्ष सूक्त में है ।

> मेरी सास द्वेष करती है मुझसे/पत्नी रोकती है राह/मैं अक्ष-प्रेमी, याचक सा हूँ अपने घर में/घोड़ा हूँ मैं/बहुमूल्य किन्तु बूढ़ा/ कोई उपयोग नहीं है मेरा/निरर्थक है मेरा जीवन । (ऋचा-४)

आत्म-स्तवन या आत्म-प्रशंसा से युक्त एकालाप का एक उदाहरण है—'वाक् सूक्त' (ऋ० १०-१२५) । इसमें वाक् देवी, अपने को समस्त सृष्टि की जन्मदात्री कहकर, अपनी महिमा को, अनेक संदर्भों के साथ प्रस्तुत करती हैं । प्रकारान्तर से यह स्त्रियों की महानता सिद्ध करने वाला सूक्त है ।

* * * *

वेदों की कविता, एक सीमा तक, प्रकृति की कविता है । सामान्यतया, प्रकृति के ही सौम्य तथा उग्र रूपों एवं दृश्य-खंडों के मूर्तीकरण से, वेदों की देव-सृष्टि रची गई है । ऐसे संदर्भों में, कवियों ने तथ्य तथा कल्पना को एकाकार कर दिया है । ऋग्वेद के लगभग २० सूक्तों में उषा की अनेक छबियों को पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के जिन बिम्बों के माध्यम से, साकार किया गया है उनसे, तत्कालीन जीवन का यथार्थ भी प्रत्यक्ष होता है । उषा को, वैदिक कवियों ने बड़ी तन्मयता के साथ देखा है । उनकी दृष्टि में उषा, सूर्य की जन्मदात्री (७.७८.३) है और एक उज्वल शिशु (१.११३.१-२) के साथ प्रगट होती है । वह सूर्य की पत्नी (७.७५.५) है और सुन्दर वस्त्रालंकारों से सुसज्जित एक रमणी की भाँति, अपने पति को अपने रूप-यौवन द्वारा, प्रेमपाश में बाँधने को आतुर है (१.१२४.७) । कभी वह, एक सुन्दर यौवनोन्मत्त युवती की भाँति दिखाई देती है जिसका सूर्य, एक पुरुष की भाँति पीछा कर रहा है (१.११५.२) । उषा, सूर्य की भ्रातृहीन कन्या है जो अपने 'दाय भाग', को स्वीकार करने के लिए, अपने पिता के पास जा रही है । यह उषा, एक नर्तकी की भाँति आकाशीय मंच पर, अपने नृत्य का प्रदर्शन करते हुए अपने को उन्मीलित करती है (१.९२.४, ६.६४.२) । इन सब के अतिरिक्त, अनेक कवियों ने उषा के रूप-सौन्दर्य का, उसके प्रकाशकीय आवरण का, उसके समस्त विश्व के किए गए कार्य-कलापों का, अनेक प्रकार से चित्रण किया है । मूर्तीकरण एवं मानवीकरण के विविध रूप, अनेक देवताओं में देखे जा सकते हैं ।

पृथ्वी की महिमा में, अथर्ववेद (१२.१) के 'पृथिवी सूक्त' को जो 'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:' की उद्घोषणा करता है, कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता । यह ६३ पदों वाला, एक मनोहारी गीत है । यह न केवल राष्ट्र-प्रेम वरन् विश्व-प्रेम का संदेश देता है ।

एक घर है यह पृथ्वी/यहाँ रहते हैं अनेक भाषा-भाषी/
अनेक धर्मावलम्बी/ सबको पोसती है यह पृथ्वी/
गायें दुही जाती है सहस्त्र धाराओं में जिस तरह/
उसी तरह धरती से प्राप्त करें हम/सभी सम्पदाएँ।

(ऋचा-४५)

वेदों का समाज, आदर्श पितृसत्तात्मक समाज है जिसमें स्त्रियों का पर्याप्त सम्मान था। फिर भी, उच्च आदर्शों के विपरीत, इस समाज में अगम्यागमन अविश्वास, वेश्यावृ आदि अनेक अवांछनीय तत्व भी थे। इस समाज में वे लड़कियाँ (अमाजुर) भी थीं जो विवाह की प्रतीक्षा में, पिता के घर में ही बूढ़ी हो जाती थीं अथवा भातृविहीन (अभ्रातर:) वे लड़कियाँ, जो विवाह के उपयुक्त नहीं मानी जाती थीं, पिता की सम्पत्ति के अभाव में, उन्हें वेश्यावृत्ति भी ग्रहण करनी पड़ती थी। ऋग्वेद (७.५५.५-८) में वे प्रेमी मिल जाएंगे जो रात्रि में अपनी प्रेमिका के सभी घरवालों को अभिमंत्रित कर, निद्रा में सुला देना चाहते हैं। मैत्रायणी संहिता (१.१०.११) का वह संस्कार (वरुण प्रधासास) यज्ञीय अनुष्ठान का अंग होते हुए भी, कम मनोरंजक न रहा होगा जिसमें यज्ञकर्ता की पत्नी से उसके पूर्व प्रेमियों के नाम पूछे जाते थे। इस प्रकार इन कविताओं में आज के समाज का, पूर्ववर्ती रूप मिल जाएगा।

अध्यात्म तथा मनस्तत्व पर अनेक सूक्त हैं जिनमें शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता का 'शिव संकल्प सूक्त', मनस्तत्व की क्षमता का पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है। इसी प्रकार ऋग्वेद (१०.१२१) का 'प्रजापति सूक्त' सृष्टि सम्बन्धी चिन्तन प्रस्तुत करता है।

जब गर्भ को धारण करती/अग्नि को जन्म देती/विशाल जलराशि
आई विश्व में/तब उत्पन्न हुआ/देवों का प्राण-हिरण्यगर्भ/
उसके अतिरिक्त किस देव के लिए/हवि का विधान करें। (ऋचा-७)

* * * *

वैदिक सूक्तों में, पशु-पक्षियों तथा निम्न जीवों में सामान्यतया अश्व, वृषभ, अज (बकरा) शुन: (कुत्ता), वाराह, कपि, गरुत्मत् (गरुड़), कपोत, अहि, नाग, मत्स्य, मण्डूक (मेढक) तथा पिपीलिका (चींटी) आदि, अनेक संदर्भों में प्रगट होते हैं। वृषभ, गौ तथा अश्व, विभिन्न देवताओं तथा प्रकृति के कुछ रूपों के लिए प्रतीकों की भाँति प्रयुक्त हुए है। इन्द्र का बन्दर 'वृषाकपि' और उनकी कुतिया 'सरमा', यम का कुत्ता 'सारमेय' तथा अनुकूल पक्षी श्येन तथा गरुड़ आदि का विशेष परिचय मिलता है। ऋग्वेद का 'मण्डूक सूक्त' मेढ़कों पर लिखा गया एक सुन्दर गीत है।

पूरी ग्रीष्म ऋतु में/मौनव्रती ब्राह्मणों की भाँति/निष्क्रिय पड़े
रहते है ताल में/सूखे चर्म कोष (चमड़े का थैला) जैसे/उनके ऊपर
जब गिरता है/प्रथम बार वर्षा का जल/तब वे बोलते हैं ऐसे/
जैसे बछड़ों के साथ बोलती हैं गायें/वे उछलते हैं/मिलते हैं एक-
दूसरे से ऐसे/जैसे पिता मिलता है अपने पुत्र से/वे स्वर मिलाते
हैं एक-दूसरे से/जैसे विद्यार्थी दोहराते हैं आचार्य के कहे हुए शब्द/
बोलता है एक गाय की तरह/दूसरा बकरी की तरह/चितकबरा है
एक तो दूसरा हरा/नाम तो एक है?वर्ण भले ही हों भिन्न-भिन्न।

(ऋ० ७-१०३)

* * * *

वेदों की अधिकांश कविताओं में मिथकीय संस्पर्श है जिनको परवर्ती ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्रत्यक्ष किया गया है। ए० ए० मेकडॉनेल (वैदिक माइथोलॉजी) के अनुसार वैदिक मिथक, प्राकृतिक घटनाओं के मूर्तीकरण और उपासना पर आधारित विश्वासों की उत्पत्ति के आरम्भिक चरण हैं।

मिथक, रूपक तथा बिम्बों के प्रयोग से, अनेक कविताएँ, विभिन्न अर्थध्वनियों के कारण अनेकार्थी हो जाती है। आज की कविताओं में भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का अर्थोन्मीलन होता है। मिथकीय संरचना के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

— पीले पक्षी के दोनों पंखों को उड़कर, स्वर्ग पहुँचने में १०० दिनों की यात्रा करनी पड़ती है (ऋ० १०.८.१८)। (पीलापक्षी = सूर्य)

— अन्तरिक्ष में जो पर्वत हैं और सात धाराएँ हैं (ऋ० १.३२.२-१२)। (पर्वत = बादल, सप्त धाराएँ = सप्त सिन्धु -पंजाब की सात नदियाँ)

— इन्द्र ने अपने शरीर से अपने माता-पिता को उत्पन्न किया (ऋ० १.१५९.२)। (इन्द्र = सूर्य, माता-पिता = पृथ्वी और द्यौस = धरती-आकाश, उत्पन्न = प्रकाशित)

— वरुण, सहस्र नेत्रों वाले हैं (ऋ० ७.३४.१०)। (वरुण = सूर्य, सहस्र नेत्र = किरणें)

— वृत्र से सूर्य की उत्पत्ति (अथर्व० ४.१०.५)। (बादलों से सूर्य का प्रगट होना)

— इन्द्र का जन्म माता के पार्श्व भाग से हुआ (ऋ० ४.१८.१-२)। (इन्द्र = सूर्य, माता के पार्श्व भाग = बादलों के कोने से सूर्य का प्रगट होना)

— विष्णु के विशेषण 'त्रि-विक्रम' (तीन पग) या 'उरुक्रम' या 'उरुगाय' (ऋ० १.१५५.५,७,९९.२ आदि)। (विष्णु = सूर्य, तीन पग = प्रातः, मध्याह्न तथा संध्या)

— विष्णु का आवास जहाँ द्रुतगति से चलने वाली अनेक सींगों वाली गायें हैं (ऋ० १.१५५.६)। (गायें =सूर्य की किरणें)

वेदों की कविता का दूसरा प्रमुख गुण, उसका रूपक विधान है। पारिवारिक रिश्तों, पालतू पशुओं, कर्मकाण्डों एवं प्राकृतिक घटनाओं आदि पर आधारित, यह रूपक-विधान, तत्कालीन सामाजिक-जीवन के अनेक संदर्भों से जुड़ा है।

— उषा, सूर्य एवं प्रातःकालीन यज्ञ की जन्मदात्री है (ऋ० ७.७८.३)।

— वायु, झंझावात का पिता है (ऋ० १.३४.४)।

— तरकस ही, वाणों का पिता है (ऋ० ६.७५.५)।

— धौस् (आसमान), मोतियों से सजाया गया कृष्ण वर्ण का अश्व है (ऋ० १०.६८.११)।

— यह (आसमान) लाल रंग का वृषभ है जो नीचे मुख करके गरजता है (ऋ० ५.५८.६)।

रूपक के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का प्रयोग भी यथा-स्थान प्राप्त होता है-

— कुठार से काटे गए वृक्ष के तने के समान, अहि (वृत्र) पृथ्वी पर सो रहा था (ऋ० १.३२.५)। — उपमा

— नीचे रहते हैं ऊपर वालों को काटते हैं, हाथ से रहित हैं किन्तु हाथ वालों को पराजित कर देते हैं "नीचा वर्तन्त उपरिस्फुरन्त्य हस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते - ऋ० १०.३४.९) —विरोधाभास

> तू जुआ (रथ का जुआ) है ? अनिष्ट करने वाले का अनिष्ट कर/उसका अनिष्ट कर जो हमारा अनिष्ट करता है ? उसका अनिष्ट कर/जिसका हम सब अनिष्ट करते हैं ('धूरसि धुवं धुर्वन्तं धुवं तं योऽस्मात् धूर्यति धुर्वः यं वयं धूर्यामः' - (वाजसनेयी सं० १.८)।— अनुप्रास तथा यमक

द्वैतवाद का मूलाधार ऋग्वेद (१.१६४.२०) का यह मंत्र जो अथर्ववेद तथा श्वेतोश्वरोपनिषद् में भी है, रूपक का एक अन्यतम उदाहरण है—

> बैठे है दो पक्षी सुन्दर पंखों वाले/मित्र भाव से एक वृक्ष पर/पीपल के मीठे-मीठे फल/ एक खा रहा बड़े स्वाद से/किन्तु दूसरा कुछ न खाकर/केवल बैठा देख रहा निरपेक्ष भाव से। (दो पक्षी = जीवात्मा और परमात्मा, वृक्ष =शरीर, फल = कर्म फल)।

होना)

अनेकार्थी तथा प्रतीकात्मक प्रयोगों की एक लम्बी शृंखला है जो ऋग्वेद से लेकर परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों तक चली आई है और पुराणों में उनका उपबृहण अर्थात् अर्थगत विस्तार हुआ हैं इन्हीं में से कई प्रतीकात्मक शब्द-समूहों या वाक्यों के अर्थ-विस्तार के रूप में, अनेक पौराणिक कथाओं एवं देवी-देवताओं का विकास हुआ हैं। कुछ अनेकार्थी ऐसी काव्य-पंक्तियाँ भी है जिसका अर्थ, व्याख्याकारों के लिंए अनुमान का विषय बना हुआ है।

चार सींग हैं तीन पाँव हैं इसके/दो सिर सात हाथों वाला यह/
त्रिविध बंधा यह बैल शोर करता है/महादेव ने मर्त्यों के बीच
प्रवेश किया है।('चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्य पादा/द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य/
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति/महादेवो मर्त्या आ विवेश।'—ऋ० ४.५८.३)

इस मंत्र की व्याख्याएँ 'यज्ञ', 'सूर्य' तथा 'शब्द' के अभिप्राय में मिलती है। अन्य व्याख्याएँ भी हो सकती हैं। राजशेखर ने काव्य पुरुष के अभिप्राय में इसकी व्याख्या की है।

यजुर्वेद में प्रहेलिका जैसी शब्द-क्रीड़ा, कर्मकाण्डीय विधानों के अन्तर्गत आती है। ये धर्मशास्त्रीय पहेलियाँ 'ब्रह्मोद्य' कही जाती हैं।

होता — अकेला कौन चलता है? कौन जन्म लेता है बार-बार?
अध्वर्यु — सूर्य चलता है अकेला। चन्द्र लेता जन्म फिर-फिर।

(वाजसनेयी सं० २३.४५)

* * * *

ऋग्वेद के लगभग ३० सूक्त, आभिचारिक कृत्यों, तंत्र-मंत्र तथा सम्मोहन आदि के हैं जिनका अभिप्राय दुष्ट-दृष्टि से सुरक्षा (नजर उतारना), गर्भ-रक्षा, अपशकुन निवारण, दुष्प्रभाव को दूर करना, रोग-मुक्ति तथा शत्रु-पक्ष को हानि पहुँचाना आदि है। इनमें तत्कालीन लोक जीवन के चित्र हैं। अथर्ववेद में तो इस प्रकार के विषयों का समावेश सबसे अधिक है। वहाँ भूत-प्रेत, राक्षस और दुष्टात्माएँ है जिन्हें अभिशप्त किया जाता है। ऋग्वेद में इस प्रकार के सूक्त दसवें मण्डल में अधिक है।

रोग निवारक मंत्रों में 'तक्मन्' (ज्वर) के उतारने के एक मंत्र का एक अंश इस प्रकार है-

तक्मन तू सबको पीला कर देता/जलता है अग्नि तुल्य/रुधिर सुखा जाता है/
तू दुर्बल हो जा/तेरा सारा रस क्षणों में सूख जाए/चला रसातल

में जा तू/हम तुमको मार भगाएँ। (अथर्व ५.२२.२)।

इसी प्रकार रक्त-स्राव को दूर करने वाले मंत्र में नाड़ियों की तुलना अरुण-वस्त्रा कुमारिकाओं से की जाती हैं-

वे कुमारिकाएँ/अरुणवस्त्रा नाड़ियाँ/चली जा रहीं/भ्रातृहीन भगिनी सम/

हैं अस्तित्वहीन हतभाग्य/दु:खी नहीं हमको कर पाएँ। (अथर्व० १.१७.१)

ग्राम्य जीवन, आस्था और विश्वास पर आधारित मान्यताएँ, देवत्व भाव को समर्पित कृतित्व तथा उपकारी के प्रति परम कृतज्ञता का भाव, वेदों की कविताओं की प्रेरक विशेषताएँ हैं। प्रत्येक वस्तु, भावना तथा विचारों का मूर्तीकरण, प्रतीकों एवं बिम्बों का स्वाभाविक प्रयोग, इन कविताओं को आज की काव्य-शृंखला से जोड़ता है। इन कविताओं में रस स्वत: स्फूर्त है। कविताओं में वीर, शृंगार, भयानक, अद्भुत तथा रौद्र रस प्रमुख है।

वेदों के सूक्तों का धार्मिक आध्यात्मिक महत्व तो सर्वविदित है। वे प्राचीन साहित्य की अमूल्य सम्पदा के संरक्षक भी हैं। वैदिक स्वर प्रार्थना का है किन्तु इन प्रार्थना के स्वरों में जीवन का संगीत गूंजता है। एक ऐसा संगीत जो जीवन को उसकी समस्त संभावनाओं के साथ स्वीकार करने के लिए हमे प्रेरित करता है।

●

'आत्मा' की विप्रतिपत्तियाँ—आत्मवादी तथा अनात्मवादी चिन्तन की भूमिका

भारतीय संस्कृति में, धर्म, अध्यात्म तथा कर्मवाद के सभी रास्ते घूम-फिर कर 'आत्मा' की ओर ही जाते हैं। संयम और साधना की सभी इकाईयाँ तथा सभी संस्थाएँ 'आत्म-संस्कार' या 'आत्म-परिष्कार' की बात करती हैं। आत्मा को केन्द्रित कर सोचना या अन्यान्य संदर्भों के बीच आत्मा के संदर्भ को भी ग्रहण करना, हमारी आदत बन चुकी है। यह वह वैचारिक संस्कार है जो आनुवांशिक प्रक्रिया द्वारा, पूर्वजों से वंशजों तक, सभ्यता के आदिकाल से संक्रमित होता आया है। कमोबेश, आत्मा को केन्द्रित कर सोचने की यह प्रवृत्ति पूरे यूरेशियाई क्षेत्र में देखी जा सकती है।

क्या आप 'आत्मा' को जानते हैं?

यह एक सामान्य धारणा है कि 'आत्मा' वह अदृश्य केन्द्रीभूत द्रव्य अथवा अभौतिक पदार्थ है जो सभी जीवों में स्थित है। उपनिषदों के अनुसार यह आत्मा, द्युलोक से बड़ी और अणुओं से भी छोटी है। यद्यपि मनुष्य अपने जैविक विकास में, पशुओं से भिन्न नहीं है फिर भी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों में, आत्मा केवल मनुष्य तक ही सीमित है। फ्रांस के दार्शनिक रेने डेकार्त (१५९६-१६५०) भी, आत्मा को मनुष्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं क्योंकि, उनके विचार से पशुओं एवं इतर प्राणियों में आत्मा का निवास नहीं होता। वे मशीन की तरह यंत्रवत कार्य करते हैं। इसके विपरीत जैन धर्म में जहाँ आत्मा का निषेध है वहाँ भी जीव तत्व को देवों, मनुष्यों और पशुओं से लेकर वनस्पतियों और धातुओं-पत्थरों तक में विद्यमान माना जाता है।

वह आत्मा, जो इस शरीर में रहकर भी इन्द्रियातीत और अभौतिक है और जो इन समस्त वैश्विक क्रिया-कलापों के मूलाधार कहे जाने वाले 'ब्रह्म' का पर्याय बनती है, कुछ दार्शनिकों की दृष्टि में काल्पनिक और निराधार है। फिर भी, वे

यह भी अनुभव करते हैं कि कुछ 'मानस-जगत' की और कुछ 'भाषा जगत' की व्यावहारिक कठिनाईयाँ ऐसी हैं जिनके समाधान या उपयुक्त विकल्प के बिना, हम आत्मा को अपने चिन्तन से अलग नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, इंग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रण्ड रसेल (१८७२-१९७०) ने आत्माओं को इन्द्रिय-प्रदत्तों के तार्किक गल्प (लॉजिकल फिक्शन) की संज्ञा दी है। वे यह मानते हैं कि अनुभवों के द्वारा चाहे आत्माओं की प्रतीति संभव न हो फिर भी वे व्याकरण की आवश्यकता की पूर्ति करती हैं। इसी प्रकार यहूदी दार्शनिक लुडबिग विटगेन्टाइन (१८८९-१९५४) अपनी पुस्तक 'फिलोसोफिकल इन्वेस्टीगेशन' में आत्मा का अस्तित्व कुछ विशेष प्रकार के कथनों की आवृत्तियों में मानते हैं। उनका कहना है कि आवृत्तियों के प्रभाव में ही हम आत्माओं को भौतिक तत्वों के समान ही एक तत्व मानने लगते हैं और अपने चिन्तन में, इस आत्मा के दास बन जाते हैं।

'आत्मा' एक महाशब्द है

यह 'आत्मा' अनेक अर्थों एवं अर्थाभासों से युक्त एक 'महाशब्द' है। यह जीवात्मा के साथ 'प्रेतात्मा' को भी अपनी परिधि में सम्मिलित कर लेती है। मन की शुद्ध या निर्विकल्प स्थिति को व्यक्त करने वाले शब्द—'अन्तःकरण', 'अन्तरात्मा' (सोल, कान्सेन्स, एसेन्स के अभिप्राय में प्रयुक्त) 'अन्तर्विवेक', 'नैतिक चेतना' या 'न्याय बोध' आदि का अभिप्राय प्रगट करने वाली 'आत्मा' से अनात्मवादियों का भी कोई विरोध नहीं है। आत्मा, 'चेतना' का पर्याय भी हो सकती है और 'स्व' या 'स्वत्व' का भी। निजवाचक सर्वनाम के रूप में आत्मा की अनिवार्यता सर्वविदित है।

'आत्मा' या 'आत्मन्' की व्युत्पत्ति, ब्रह्म या ब्रह्मन् की भाँति कठिन नहीं है। कुछ विद्वान् इसमें 'अन्' (सांस लेना, जर्मन 'आट्मन') धातु का अभिप्राय निहित मानते हैं और इसकी व्याख्या में 'निःश्वास', 'श्वास' तथा 'आत्मभाव' को रेखांकित करते हैं। डूसन, जैकोबी तथा दास गुप्ता, इसकी उत्पत्ति दो धातुओं से मानते हैं, जिसका मूल अर्थ होगा— 'यह मैं'। कोई भी निरुक्ति की जाय, 'आत्मन्' केवल दार्शनिक शब्द नहीं है। यह संस्कृत भाषा का एक व्यापक शब्द है जिसका अर्थ है— 'स्व' अथवा 'आत्म भाव', जो प्रायः निजवाचक सर्वनाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह संज्ञा के रूप में, बाह्य संसार की तुलना में 'मनुष्य के शरीर के लिए', शरीर के सर्वाङ्गों की तुलना में मध्य भाग में स्थित 'हृदय के लिए' और हृदय की तुलना में वास्तविक 'अन्तःकरण' के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

जीव-तत्व की आदिम कल्पना

इस 'आत्म-तत्व' के विकास का प्रारम्भिक सूत्र, 'जीव-तत्व' या 'जीव-द्रव्य' की कल्पना से जुड़ा हुआ है। भारत में, आदिम काल में, आने वाली नस्लों की सापेक्ष स्थिति स्पष्ट नहीं है इसलिए, यह कहना कठिन है कि 'जीव-तत्व' की कल्पना करने वाली नस्ल भूमध्य देशीय थी या कोलारी या आद्य-आस्ट्रालायड। फिलहाल, इनमें किसी एक ने जीव-तत्व की कल्पना हमें दी और इन्हीं में किसी दूसरी नस्ल ने जीव-तत्व के स्थानान्तरण (पुनर्जन्म से भिन्न) की मान्यता को विकसित किया। आदिम जातियों के जीव-तत्व या आत्मा सम्बन्धी कल्पना के कुछ रूप भारत की वर्तमान जन-जातियों के विश्वासों एवं धार्मिक अभिचारों में सुरक्षित हैं। नृतत्व शास्त्र के विद्वानों एवं अन्वेषकों ने, आदिम जातियों के इस जीव-द्रव्य का, विविध रूपों में उल्लेख किया है। साधारणतया यह कहा जाता है कि यह जीव-द्रव्य, ससीम (फाइनाइट), निश्चित (कांक्रीट) एवं अदृश्य (इनविजिबुल) है और दूसरे सशक्त जीव-द्रव्यों से खिंचकर जा सकता है। यदि प्रथम की रक्षा न की जाय तो दूसरा उसे हानि पहुँचा सकता है। संभवत:, भूत-प्रेत की पूजा का क्रम, इन विभिन्न जीवित और मृत जीव-द्रव्यों की टकराहट से शुरू हुआ। जे० एच० हटन ('भारत में जाति-प्रथा') के अनुसार योरोपीयों में भी, सभ्यता के आदिकाल से, जादू-टोना, मान, टैबू और आत्म-तत्व की कल्पना वर्तमान थी। पारसी पुरोहितों में शुद्धि के लिए किए जाने वाले अनुष्ठान तथा भोजन और जल-ग्रहण को धार्मिक कृत्य मानना, इसके संकेत हैं। 'मान' का सिद्धान्त बौद्धों में 'इद्धि' इस्लाम में 'कुदरत' और हिन्दू धर्म में 'शक्ति' के रूप में प्रचलित है।

टाइलर ने जन-जातियों के आत्मा संबंधी विश्वास को, जीव वाद (एनीमिज्म) की संज्ञा दी है। एक आत्मा तो वह है जो स्वच्छन्द है और निद्रावस्था में शरीर से बाहर निकलकर, अनेक स्थानों में विचरण करती है और पुन: शरीर में वापस लौट आती हैं। दूसरी आत्मा शरीर में ही स्थिर रहती है और तब तक रहती है जब तब मनुष्य की मृत्यु नहीं हो जाती। मजूमदार, टाइलर के इस 'जीव वाद' को निम्न कोटि का धर्म मानते हैं क्योंकि इसमें अभिचार या जादू-टोने आदि का विशेष प्रभाव है। इसके अनुसार मनुष्य का जीवन भूतात्माओं और अवैयक्तिक छायाओं से आक्रान्त है। इसके विपरीत, मैक्समूलर के 'प्रकृतिवाद' में आदिमानव की इस धारणा का समर्थन है कि प्रकृति की सभी वस्तुओं में जीवन है। मैरेट ने, जीववाद के सिद्धान्त को एक नया रूप दिया है। उनके अनुसार यह 'मान' या 'मानावाद' है। इसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि आदिम जातियों का सम्पूर्ण धार्मिक जीवन एक अज्ञेय, अवैयक्तिक, अभौतिक अधिमानवीय शक्ति में विश्वास

के कारण विकसित हुआ। यह अधिमानवीय शक्ति, सभी सजीव और निर्जीव वस्तुओं में वास करती है। अनेक विद्वानों ने यह संकेत किया है कि आदिम जातियों के धार्मिक विश्वासों में प्रमुख तत्व 'मानावाद' है।

'टोटेम', 'टैबू' तथा 'मान', आत्म-द्रव्य या जीव-द्रव्य के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह आत्म-तत्व, जो केवल भारत ही नहीं, पूरे विश्व की आध्यात्मिक विचार-शृंखला का प्रस्थान-बिन्दु है, उन आदिम विश्वासों में विकसित हुआ जहाँ योरोपियों एवं हिन्देशियाईयों में 'अभिचार' (जादू-टोना, मंत्र-तंत्र), 'मान' (किसी व्यक्ति या वस्तु में शक्ति की कल्पना), 'टैबू' (प्रतिषेध-निषेध) आदि के साथ, जीव-तत्व की कल्पना वर्तमान थी। इसमें 'मान' के सिद्धान्त का वह रूप ज्यादा सक्रिय सिद्ध हुआ जिसमें किसी व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ को सप्राण और शक्ति-सम्पन्न मान लेने की कल्पना की गई है। इसी के फलस्वरूप, आदिम जातियों के इस विश्वास के साथ कि जीव-द्रव्य स्थानान्तरित किया जा सकता है, अनेक आभिचारिक कृत्य, नरमांस भक्षण (मृत व्यक्ति की शक्ति को स्थानान्तरित करने के लिए), शत्रु का सिर काटना या नर-बलि आदि क्रूरताएँ सम्मिलित होती गईं। इसी के विस्तार में, चूल्हा, नाव, कुल्हाड़ी अथवा अन्य निर्जीव वस्तुओं में भी जीव-तत्व का अस्तित्व माना गया है। न्यूगिनी के 'काई' कबीले में यह विश्वास प्रचलित है कि शब्दों में भी 'जीव' होता है और यह जीव, उनके नाम की भाँति है। हमारें यहाँ मंत्रों में, शाप या वरदान की जो शक्ति मानी गई है, उनमें भी यही 'मान' का सिद्धान्त वर्तमान है। यह जीव-द्रव्य ही, आदिम विश्वासों के साथ 'आत्मा', 'चेतना' या 'आत्म-द्रव्य' के रूप में विकसित हुआ।

मनस् तत्व और आत्मा

जीव-द्रव्य का ही परिष्कृत रूप 'आत्म-द्रव्य' है जो कालान्तर में, 'आत्मा' के व्यापक अर्थ को ग्रहण कर 'परमात्मा' तक पहुँच गया। यद्यपि आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, कर्मवाद तथा मोक्ष, जो भारतीय अध्यात्म-चिन्तन के विविध आयाम हैं, परस्पर किसी न किसी कारण से सम्बद्ध भी हैं। इसलिए किसी एक आयाम की चर्चा तब तक अधूरी है जब तक दूसरे सम्बद्ध आयामों की चर्चा न की जाय। इस आलेख में, जो 'आत्मा' तक सीमित है, दूसरे आयामों की चर्चा से यथासंभव बचने का प्रयास किया जाएगा।

आत्मा का मानस जगत से गहरा सम्बन्ध है क्योंकि इसके प्रारम्भिक संदर्भ जो वेदों में हैं, मन के अभिप्राय में ही हैं। ऋग्वेद का एक सूक्त (१०.५८) ऐसा है जिसमें मृतवत् सुप्त व्यक्ति की आत्मा (मनस्) से, बाहर भ्रमण कर रहे स्थानों से, पुनः शरीर में वापस आने के लिए प्रार्थना की गई है। वेदों में 'प्राण' और 'आत्मन्'

जो वात (वायु) के समानान्तर आशय में प्रयुक्त हुए हैं, के अतिरिक्त, चेतना के सिद्धान्त को व्यक्त करने वाले अन्य शब्द 'असु' और 'मनस्' हैं। असु दैहिक शक्ति (ऋ० १.११३.१६; १.१४०.८), पशुओं की दैहिक चेतना (ऐतरेय ब्रा० २.६) का द्योतक है। 'मनस्', विचार या संवेग का स्थान है। मुख्यतया, अथर्ववेद के अनेक स्थल, यह व्यक्त करते हैं कि जीवन और मृत्यु, 'असु' तथा 'मनस्' के स्थायित्व और प्रस्थान की दो क्रियाएँ हैं। अतः, यदि आत्म तत्व, मनस् तत्व का विकल्प है तो आत्मा का अस्तित्व तभी तक है जब तक यह शरीर है। शरीर से पृथक्, आत्मा का कोई अस्तित्व कैसे सम्भव है ? लेकिन, आत्मा की भूमिका को इतना संक्षिप्त करके नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि आत्मा का अस्तित्व अदृश्य जगत में भी हो सकता है। यद्यपि आज विज्ञान ने सभी पुरानी मान्यताओं एवं विश्वासों पर प्रश्न-चिन्ह लगा दिए हैं फिर भी, आत्मा, ईश्वर तथा देववाद का कोई वैज्ञानिक समाधान उसके पास नहीं है। विज्ञान यह भी नहीं बता सका कि प्रेतात्माएँ क्या हैं ? उनका कोई अस्तित्व है या नहीं ? स्वप्नों का रहस्य भी वह सुलझा नहीं सका है ? पुनर्जन्म के अस्तित्व का भी कोई समाधान उसके पास नहीं है। यदि जीवन अणुओं-परमाणुओं से निर्मित है तो ये अणु-परमाणु कहाँ से आए ? भाग्य या अदृष्ट के प्रभाव पर भी अभी विज्ञान मौन है। इसी प्रकार मनस्तत्व के सम्बन्ध में अभी सभी अपेक्षित जानकारी विज्ञान के पास नहीं है।

मन या आत्मा की गूढ़तम स्थितियाँ

मन का विज्ञान आश्चर्यजनक है। मन की शक्तियाँ देश और काल की सीमाओं का भी अतिक्रमण कर जाती हैं। मन की गूढ़तम स्थितियों का विश्लेषण ऐसी शक्तियों से हमारा परिचय कराता है जो विस्मयजनक होने के कारण, आत्मा की शक्तियाँ मानी जाती हैं। मनोविज्ञान की आधुनिक जानकारी के अनुसार, 'दिव्य दृष्टि' से हम, भौतिक साधनों के बिना, अपनी परामनोवैज्ञानिक शक्ति से, आँखों की क्षमता से परे, दूर तथा पास दोनों को बारीकी से देख सकते हैं। 'परचित्त विज्ञान' में हमें वह अन्तर्ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि हम किसी व्यक्ति के आचरण, व्यवहार के साथ, चेहरे की मुद्राओं से, उसके मन को भी पूरी तरह पढ़ सकते हैं। इसे 'माइंड रीडिंग' कहते हैं। विचार-सम्प्रेषण की क्रियाएँ, जिन्हें 'दूरानुभूति' अथवा 'दूरबोध' (टेलीपैथी) कहते हैं, सबको आश्चर्यचकित करने वाली हैं। 'मनोमति', 'स्पर्शावलोकन', अथवा 'स्पर्शानुभूति' (साइकोमैट्री) के अतिरिक्त 'प्राण बल' और 'जैव ऊर्जा' आदि मन की क्रियाओं के नवीन अनुसंधान हैं। 'प्राण बल' और 'जैव ऊर्जा' का चिकित्सा जगत में भी प्रवेश हो चुका है। 'मनः प्रभाव' या विचारों के प्रभाव से किसी वस्तु अथवा पदार्थ में गतिशीलता उत्पन्न की जा सकती है। इन

सबसे स्पष्ट है कि मनस्तत्व की व्यापक सीमाओं में, आत्मा की रहस्यमयता और भी अधिक जटिल प्रतीत होती है।

ब्रह्मवाद के समानान्तर आत्मवाद की प्रतिष्ठा

'आत्मवाद' का सफल बीजारोपण एवं पल्लवन उपनिषदों की उर्वरा भूमि में हुआ। उपनिषदों के दार्शनिकों का वैचारिक प्रवाह, दो धारणाओं को केन्द्र बनाकर आवर्तित होता है— 'ब्रह्मन्' तथा 'आत्मन्'। वेदों के सूक्तों में निहित यज्ञीय कर्मकाण्डों की व्याख्या, विवेचना एवं विवाद में उलझे, पुरोहितों एवं संदेहवादी ऋषियों की अपेक्षा, वेदों की दार्शनिक दृष्टि का विकास तत्कालीन कई राजाओं एवं तेजस्विनी स्त्रियों (ऋषिकाओं) द्वारा हुआ। ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में, इसके अनेक आख्यान और उदाहरण मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण के विदेहराज जनक, बृहदारण्यक उपनिषद के वचक्नु की पुत्री गार्गी, छान्दोग्य उपनिषद के राजा प्रवाहण, राजा अश्वपति कैकेय तथा राजा अयस्थूण आदि ने ब्रह्म, आत्मा तथा पुनर्जन्म आदि की व्याख्या कर, ऋषियों एवं जिज्ञासुओं को इस ज्ञान से लाभ उठाने के लिए प्रेरित किया। ओल्डेनबर्ग, ओल्डमेयर, कीथ तथा दास गुप्ता आदि ने यह स्वीकार किया है कि तत्कालीन क्षत्रिय राजाओं की उत्कट आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण ही दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार संभव हो सका।

उपनिषदों में आत्मा के सिद्धान्त को कई प्रकार से समझाने की कोशिश की गई है। शांकर भाष्य के अनुसार 'आत्मा' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

'यदाप्नोति यदादत्ते यच्चाति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततौ भावस्तमात्मादात्येति कीर्त्यते।' अर्थात् आत्मा सर्वत्र व्याप्त, सारे पदार्थों को ग्रहण तथा अनुभव करने वाला है। इसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है। इसीलिए इसे आत्मा कहते हैं (कठोपनिषद, शंकर भाष्य २.१.१)। कठोपनिषद (१.३.३-४) में ही आत्मा की स्थिति को इस प्रकार समझाया गया है कि यह शरीर एक रथ है जिसमें इन्द्रिय रूपी घोड़े जुते हुए हैं और ये घोड़े विषय रूपी मार्ग पर दौड़ रहे हैं। बुद्धि रूपी सारथी, मन रूपी लगाम लगा कर, इन घोड़ों को हाँक रहा है। आत्मा, मन तथा इन्द्रिय से युक्त जीव ही इस रथ का भोक्ता है और आत्मा रूपी रथी, इस रथ का स्वामी है। शरीर के सारे व्यवहार इस रथी (आत्मा) के लिए होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद (३.१४.३-४) में यह कहा गया है कि यह आत्मा धान, यव, सरसों अथवा श्यामाक् (सावां) से भी अणुतर और पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक से भी बड़ी है। यह आत्मा, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध और सर्वरस है, सबमें व्याप्त है। यही आत्मा अन्तर हृदय में ब्रह्म है।

उपनिषदों में आत्मा को तुरीय अर्थात् शुद्ध चैतन्य कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद (८.७) के एक आख्यान में आत्म चैतन्य को तुरीय (चतुर्थ) अर्थात् जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में अभिव्यक्त चैतन्य से भिन्न, अद्धैत, शुद्ध, साक्षी, स्वयं प्रकाश एवं स्वयंसिद्ध माना गया है जो उपरोक्त तीनों अवस्थाओ का आधार है।

छान्दोग्य उपनिषद (६.१) में श्वेतकेतु के आख्यान में, यह कहा गया है कि आरम्भ में केवल 'सत्' से 'तेजस्', तेजस् से 'जल' और जल से अन्न की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार 'सत्' से व्याप्त, इन तीनों तत्वों ने इस भौतिक संसार को विकसित किया। निद्रा, बुभुक्षा और पिपासा— अर्थात् प्रत्येक वस्तु, इन तीनों तत्वों— तेजस्, जल और अन्न में समाहित हो जाती है। यह सत् ही आत्मरूप है जो सभी प्राणियों में व्याप्त है। यह सत् ही 'आत्मा' है। जैसे मधु में सभी फूलों का रस है उसी प्रकार 'सत्' में ही सभी कुछ है।

भारतीय दर्शन में आत्मा स्वसंवेदन का विषय है और अपने सीमित रूप में, यही ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता है। इस रूप में यह 'जीवात्मा' है। तात्विक दृष्टि से, इसी जीवात्मा को, नित्य, चेतन-द्रव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह संख्या में अनेक है। विशुद्ध रूप में द्रष्टा के अभिप्राय में, यही आत्मा, शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप, 'परमात्म तत्व' है। यह परमात्म तत्व ही 'ब्रह्म' है जिसका उपनिषदों में विशेष विवरण प्राप्त होता है। इस 'ब्रह्म' अथवा 'ब्रह्मन्' की व्युत्पत्ति तथा निरुक्ति दोनों विवादास्पद है और विस्तार की अपेक्षा रखती है। संक्षेप में, सामान्यतया इस 'ब्रह्मन्' या पवित्र ज्ञान को सबसे पूर्व उत्पन्न ('ब्रह्म प्रथमजम्') माना गया है। पुरोहितों की सत्ता में 'ब्रह्म' एक दिव्य सत्ता के रूप में विकसित हुआ। उपनिषदों का 'आत्मवाद' इसी ब्रह्मवाद का पूरक है। इस 'ब्रह्म' का पर्याय 'ओम्' सर्वाधिक पवित्र अक्षर माना जाता है। छान्दोग्य उपनिषद (१.१) में 'ओम्' की उपासना पर बहुत जोर दिया गया है। 'ओम' का अर्थ सामान्यतया 'अनुमति' अथवा 'समर्थन' की अभिव्यक्ति (छान्दोग्य १.१.८) है। कठोपनिषद (२.१६) में कहा गया है कि यह अक्षर ओम् ही 'ब्रह्म' है।

उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म दोनों सर्वथा एक हैं। यह अभेद, 'तत् त्वमसि' (वह तू ही है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है), 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) आदि वाक्यों में स्पष्ट है। आत्मा और ब्रह्म के विशद विवेचन के साथ, भारतीय दर्शन के सभी महत्त्वपूर्ण आयामों, यथा— कर्मवाद, पुनर्जन्म, मोक्ष तथा माया (अविद्या) आदि के भी उल्लेख उपनिषदों में मिलते हैं। आगे चलकर इन आयामों का विविध रूपों में विस्तार हुआ है।

भारत का अनात्मवाद

यास्क (निरुक्त १-१५) ने कौत्स नाम के किसी आचार्य के मत का उल्लेख किया है। कौत्स, वेद-विरोधी थे। उनके तर्क, वेदों से सम्बन्धित नियत शब्द और पद, शब्दार्थ तथा विरोधी उक्तियों आदि पर केन्द्रित हैं। निष्कर्ष यह है कि वेद के मंत्र निरर्थक' हैं— 'अनर्थका हि वेद मंत्राः।' यास्क ने, कौत्स के तर्क प्रस्तुत कर उनका खंडन किया है। चार्वाक, बौद्ध, जैन तथा अन्य वेद-विरोधी, अनीश्वरवादी एवं अनात्मवादी दार्शनिकों ने अपने अभिप्राय को तर्क संगत बनाने के लिए, कौत्स की उक्तियों का सहारा लिया है। इस प्रकार वेदों को अर्थहीन सिद्ध करके उनसे उद्भूत वैदिक कर्मकाण्ड, ब्रह्मवाद तथा आत्मवाद आदि सबको अस्तित्वहीन बना देने का यह पहला प्रयास था।

चार्वाक दर्शन, भारत का प्रथम अवैदिक तथा भौतिकवादी दर्शन है। यह मत, ईश्वर, आत्मा, कर्मवाद, पुनर्जन्म तथा देवी-देवता आदि किसी के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इनका सीधा-सादा सिद्धान्त है कि चेतना, चार मौलिक तत्वों— पृथ्वी, अग्नि, वायु तथा जल ('पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्वानि') के संयोग से, जीवित शरीर में ही उत्पन्न होती है और शरीर की मृत्यु के साथ ही, समाप्त हो जाती है। यह उसी प्रकार है जैसे द्राक्षा आदि के रस के विकार से, मादकता उत्पन्न होती है— 'किण्वादिभ्योमदशक्ति वद् विज्ञानम्।' जैसे, ताम्बूल, कत्था, चूना तथा सुपारी में लाल रंग नहीं है किन्तु, सबके मिलने से लाली स्वतः उत्पन्न हो जाती है— 'ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्'। ज्ञान, इन्द्रिय और अर्थ विषय के सान्निध्य से प्रत्यक्ष होना है। प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है क्योंकि रूप के अभाव में जो अदृष्ट है, रस के अभाव में जो अनास्वादित है, गन्ध के अभाव में जो अनाघ्रात है, शब्द के अभाव में जो अश्रुत है— इन्द्रियों द्वारा अग्रहणीय यदि कोई पदार्थ है तो वह काल्पनिक और अवास्तविक है। चार्वाक दर्शन, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में, केवल 'काम' को ही पुरुषार्थ मानता है— 'काम एवैकः पुरुषार्थः।' अर्थ को काम की प्राप्ति के साधन के रूप में स्वीकार करता है। उसके अनुसार 'मृत्यु' ही मोक्ष है— 'मरणमेवापवर्गः।' अस्तु, चार्वाक दर्शन में आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है।

अनात्मवादी विचारधारा की दूसरी कड़ी, ईसा की छठीं शताब्दी पूर्व, उन क्रान्तदर्शी धर्मों में देखी जा सकती है जो अपनी प्रकृति में ही 'अनात्मवादी' हैं। मक्खलि गोशाल (आजीवक धर्म), स्वामी महावीर (जैन धर्म) और गौतम बुद्ध (बौद्ध धर्म) तीनों समकालीन ही नहीं थे बल्कि तीनों के आपस में सम्पर्क भी थे। मक्खलि गोशाल, दास-पुत्र थे। वे स्वामी महावीर के साथ ६ वर्ष तक रहे। बाद

में उनसे अलग हो गए। उनकी मृत्यु, गौतम बुद्ध की मृत्यु के एक वर्ष पूर्व अर्थात् सन् ४८४ ई० पू० में हुई थी। आजीवक धर्म, भाग्यवाद या नियतिवाद को मानता है। इसमें कर्म और कर्म फल दोनों का निषेध है। आत्मा तथा परमात्मा जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। आजीवक यह मानते थे कि सर्वत्र नियति या भाग्य चक्र प्रधान है। हम वही करते हैं जो नियति हमसे करवाती है। सभी जीव नियति के वश में हैं। इन जीवों की अपनी कोई शक्ति नहीं है। भाग्य या संयोग से इनका जन्म होता है, इसी भाग्य या संयोग से सभी दुःख-सुख के भागी होते हैं। पाणिनि ने आजीवक को 'दैष्टिक धर्म' कहा है। यह धर्म अहेतुवादी है। यहाँ धर्माचरण आदि प्रभावहीन हैं। परलोक आदि भी मिथ्या है। समुद्र का जल जैसे तट पर पहुँचकर स्वयं वापस लौट जाता है उसी प्रकार आवर्तन-विर्वतन की तरह सभी जन्म और मृत्यु के भागी होते हैं। आजीवक, संयम में बहुत विश्वास करते थे और जैनियों की तरह नग्न रहा करते थे।

जैन धर्म प्रागैतिहासिक है। इसके प्रवर्तक, ऋषभदेव कहे जाते हैं। इस धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर (५९९-५२७ ई० पू०) ने इसे पुनः प्रतिष्ठापित किया। जैन धर्म, ज्ञान मीमांसीय दृष्टि से सापेक्षवादी, बहुत्ववादी या अनेकान्तवादी कहा जाता है। इसमें भौतिक पदार्थ को पुद्गल (बौद्ध धर्म में चेतन जीव ही पुद्गल है) कहा जाता है जो अणु रूप है। जीव चेतन है। पुद्गल और जीव दोनों भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं, अनेक हैं। जीव-तत्व देवों, मनुष्यों, पशुओं, वनस्पतियों एवं धातुओं-पत्थरों तक में विद्यमान है। चीटीं से लेकर मनुष्य तक, चैतन्य की उत्तरोत्तर उत्कर्ष की शृंखला है। जीव अपने स्वरूप में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य से सम्पन्न है। कर्मफल से संपृक्त होने पर, जीव के इस अनन्त स्वरूप का प्रकाश नहीं हो पाता। सभी जीव अपने-अपने अनुकूल, शरीर को धारण करते हैं— 'पिपीलिका पुद्गलं प्राप्य पिपीलिका भवति, हस्ति पुद्गलं प्राप्त हस्ती भवति।' आकाश के अनन्त विस्तार में, सभी जीव, दीपों के प्रकाश की भाँति, बिना किसी टकराव के स्थित रहते हैं। जैन धर्म में ईश्वर और आत्मा का, पुद्गल और जीव से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। जैन धर्म की कई शाखाएँ है जिनमें मान्यताओं की दृष्टि से कुछ अन्तर भी है।

तथागत बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०) का दर्शन आध्यात्मिक अद्वैतवाद है। उनके अनुसार परमतत्व 'निर्वाण' है जो अतीन्द्रिय, बुद्धि-विकल्पातीत एवं अनिर्वचनीय होने से, निर्विकल्प स्वानुभूति अथवा 'बोधि' का विषय है। बोधि अर्थात् 'ज्ञान' से ही, इस दुःख रूप तथा अविद्याजन्य संसार से मुक्ति या निवृत्ति होती है।

भगवान् बुद्ध अपने उपदेशों में कहीं भी प्रत्यक्षत: अनात्मवाद को प्रतिष्ठित नहीं करते । वे आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग तथा नरक आदि के सम्बन्ध में मौन रह जाना ही उचित समझते हैं । वे न इनको निराकृत करते हैं और न स्वीकार करते हैं । उनकी दृष्टि में ये सब 'अव्याकृत' प्रश्न है और व्यक्तिगत विश्वासों और कल्पनाओं के अन्तर्गत आते हैं ।

बौद्ध दर्शन के पाँच स्कन्धों— रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में— प्रथम 'रूप', भौतिक है जो पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि— इन चार परमाणुओं से बनता है । हमारा शरीर, उसी के अन्तर्गत आता है । शेष चारों मानस है अर्थात् विभिन्न मानसिक भावों एवं प्रवृत्तियों के संघात हैं । रूप से लेकर वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान तक, पाँच स्कन्धों का जो संघात है और जो क्षणिक है, उसे व्यवहार में 'पुद्‌गल' कहा जाता है और परमाणुओं अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि का जो संघात है उसे 'भौतिक पदार्थ' कह सकते हैं किन्तु, दोनों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है ।

बौद्ध दर्शन के कुल छ: मुख्य सम्प्रदायों में महत्त्वपूर्ण हीनयान का 'क्षणभंगवाद' सिद्धान्त यह मानता है कि सर्वत्र अनात्म है अर्थात् कोई नित्य द्रव्य नहीं है । परिवर्तन की एक लहर प्रवाहित हो रही है । कोई भी प्रवाह नित्य नहीं है, कोई भी द्रव्य, नित्य नहीं है । न चेतन, न जड़, न कूटस्थ (सर्वोच्च) नित्य और न परिणाम नित्य । न कोई आत्मा या पुद्‌गल या चेतन द्रव्य और न कोई भौतिक पदार्थ या जड़ द्रव्य । द्रव्यता, एकता, तादात्म्य तथा नित्यता आदि सभी कल्पना मात्र है । नदी के जल-प्रवाह की निरन्तरता ही, जल-प्रवाह के एक होने का बोध कराती है— अर्थात् एक जलधारा के बाद दूसरी जलधारा निरन्तर गतिमान है । इसीलिए, हम नदी के एक ही जल में दोबारा नहीं नहा सकते । क्योंकि जिस जलधारा या जल धाराओं में हमने स्नान किया, वे सब गतिशील थीं । इसलिए आगे निकल गईं । यही हाल दीप-शिखा का है । शिखा के एक ही प्रकाश को हम दोबारा नहीं देख सकते । शिखा का ज्वलन-प्रवाह भी नदी के जल की भाँति निरन्तर गतिमान है । अत:, गति का नैरन्तर्य, नदी के जल और दीप-शिखा के प्रकाश को, क्षण-प्रतिक्षण नवीन बनाए रखता है ।

भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय और आत्म-तत्व

भारतीय दर्शनों में, प्राचीनतम सांख्य दर्शन और उसके पूरक योग दर्शन के सिद्धान्त-बीज, छान्दोग्य, प्रश्न, कठ, श्वेताश्वर आदि उपनिषदों और कुछ सीमा तक महाभारत तथा गीता में बिखरे पड़े हैं । सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के प्रथम तत्व 'प्रकृति' की स्वतंत्र सत्ता है और द्वितीय तत्व 'पुरुष' ही चेतन आत्मा

है । यह पुरुष ही विषयी, ज्ञाता और अनुभविता है । यह पुरुष, चैतन्य स्वरूप है । प्रकृति चेतन नहीं है इसलिए अन्धी है । किन्तु, बराबर सक्रिय और गतिशील है । पुरुष चेतन है, द्रष्टा है किन्तु गतिशील नहीं है । दोनों का सम्बन्ध 'अंधपंगुन्याय' जैसा है । अर्थात् पुरुष, प्रकृति के कंधे पर सवार होकर, सृष्टि-विधान की ओर अग्रसर होता है । सांख्य दर्शन, शंकराचार्य के अनुसार, अवैदिक दर्शन है और वे इसे अनात्मवादी दर्शन भी कहते हैं । सांख्य और योग दोनों प्राचीन है । सांख्य के प्रतिष्ठापक महर्षि कपिल और योग के प्रवर्तक पतञ्जलि मुनि कहे जाते हैं । सांख्य दर्शन पर जैन-बौद्ध धर्म का प्रभाव है ।

महर्षि कणाद् जो कणभुक, काश्यप या औलूक नाम से भी जाने जाते हैं । जैन और बौद्ध धर्मों से भी प्राचीन, वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं । अक्षपाद गौतम मुनि द्वारा प्रवर्तित न्याय दर्शन, वैशेषिक का संयुक्त दर्शन है । वैशेषिक दर्शन 'आत्म तत्व' को स्वतंत्र सत्ता मानता है । आत्मा, अविद्या के वश में कर्म में लीन होती है जिसके कारण अदृष्ट रूप से धर्माधर्म संस्कार का सञ्चय होता रहता है । पुंन:, फलोन्मुख होने पर, आत्मा के कर्मफल भोग के लिए ही सृष्टि होती है । आत्मा, जब तक कर्मजाल में है, तभी तक वह बन्धन में है । विद्या या ज्ञान से, कर्म का विनाश हो जाने पर, अर्थात् प्रारब्ध और संचित का क्षय हो जाने से, शरीर, इन्द्रिय तथा मन से वियुक्त आत्मा, अपने शुद्धतम रूप में स्थित हो जाती है । यही मोक्ष है जहाँ सभी दु:खों की अन्तिम निवृत्ति हो जाती है । इसी प्रकार नैयायिक, आत्मा को मानस-प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं यद्यपि प्राचीन नैयायिक इसे अनुमान का विषय मानते थे । मानस-प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुव्यवसाय ज्ञान जैसा है । व्यवसाय का अर्थ 'ज्ञान' है और अनुव्यवसाय का अर्थ है ज्ञान के बाद का ज्ञान । जैसे, 'यह घट है'— यह घट का ज्ञान है । लेकिन मैं जानता हूँ कि यह घट है— यह अनुव्यवसाय है क्योंकि यह घट-ज्ञान का ज्ञान है । अत: आत्मा भी ज्ञेय विषय ही है ।

मीमांसा सूत्रों के रचयिता महर्षि जैमिनि ने अपने पूर्ववर्तियों का भी उल्लेख किया है । मीमांसक स्वत: प्रमाण्यवाद को मानते हैं । ज्ञान, स्वत: प्रमाण होता है । प्रभाकर और कुमारिल दोनों महर्षि जैमिनि के मीमांसा-सूत्रों के टीकाकार हैं । दोनों के अनुसार आत्मा अनेक है । दोनों ही आत्मा को नित्य, सर्वगत, विभु तथा व्यापक द्रव्य मानते हैं । आत्मा ही ज्ञाता, कर्ता तथा भोक्ता है और यह आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से भिन्न है । न्याय-वैशेषिक के समान प्रभाकर मिश्र, आत्मा को जड़ द्रव्य मानते हैं जो ज्ञान नामक गुण का आश्रय है । कुमारिल भट्ट ज्ञान को आत्मा का परिणाम या क्रिया मानते हैं जिसके द्वारा आत्मा पदार्थों को जानता है । प्रभाकर और कुमारिल ने 'आत्मा' की व्यापक व्याख्या की है जिस पर जैन धर्म का प्रभाव भी देखा जा सकता है ।

वेदान्त दर्शन में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता तीनों मूल ग्रन्थ हैं जिन्हें 'प्रस्थान-त्रयी' कहा जाता है। यद्यपि शंकराचार्य के पूर्व भी, वेदान्त के कई आचार्य हुए हैं किन्तु ब्रह्म सूत्र पर भाष्य लिखकर वेदान्त सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करने वाले शंकराचार्य ही सबसे प्राचीन हैं। वेदान्त के अनुसार, परम तत्व ब्रह्म या आत्मा है। आत्म-तत्व नित्य, विशुद्ध, चैतन्य स्वरूप, नित्य विज्ञान स्वरूप और अखण्ड आनन्द स्वरूप है। शंकराचार्य ने, सभी दर्शनों के विरोधी मतों का खण्डन कर, आत्मा या ब्रह्म को ही, एकमात्र वेदान्त प्रतिपादित तत्व स्वीकार किया है।

समानान्तर दर्शन— ग्रीक दर्शन में परम-तत्व तथा आत्म-तत्व

योरोपीय दर्शन की पौधशाला ग्रीक है। वहाँ के दर्शन का इतिहास ईसा पूर्व छठी शताब्दी से प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ में परम तत्व की खोज में भटकने वाला यह दर्शन प्लेटो तक आकर, रहस्यवादी कोटि का हो जाता है। ग्रीक ही नहीं बल्कि योरोप के प्रथम दार्शनिक, थेलीज 'जल' को परम तत्व इसलिए मानते हैं कि जल बिन्दु रूप है। तरल, वाष्प तथा घन (बर्फ) है, गति और परिणाम का सूचक है..... । उनके शिष्य एनेक्जिमेन्डर, जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु आदि के स्थान पर एक ऐसे परम तत्व की कल्पना करते हैं जो असीम, नित्य, अनन्त और अविनाशी है। इनके अनुसार आत्मा ही प्राण वायु है जिससे गति और जीवन का संचार होता है। इन सबके विपरीत, पाइथागोरियन मत के प्रवर्तक पाइथागोरस आत्मा की अमरता के साथ प्राक्तन कर्म, कर्मवाद और पुनर्जन्म में भी विश्वास करते हैं। वे ग्रीक के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे और उन्होंने जिस समाज की स्थापना की थी उसके सदस्य निरामिष भोजी तथा पवित्र जीवन के साथ रहस्यमय साधना में लीन रहते थे। ई० पू० छठी शताब्दी के अन्त तथा पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वर्तमान हरेक्लाइटस जैसे महान् दार्शनिक, अपने सिद्धान्तों में बौद्धों की हीनयान शाखा के 'क्षणभंगवाद' के निकट प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार विश्व, गति है, परिणाम है, धारा है, प्रवाह है, निरन्तरता है। हम, एक नदी के जंल में दोबारा नहीं नहा सकते क्योंकि जल तो प्रवाहमान है। इसी प्रकार अग्नि-शिखा का प्रकाश भी प्रवाहमान् है। नैरन्तर्य के कारण ही पूर्णता का भ्रम बना हुआ है। वे अग्नि या तेजस् को परमतत्व मानते हैं। इसी से जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। यही परम तत्व है क्योंकि यह ज्वलन्त और गतिशील है।

हेरेक्लाइटस ने संघर्ष, विरोध, निषेध और अभाव को सूत्र रूप में ग्रहण कर सापेक्षवाद और बुद्धिवाद दोनों को विकसित किया। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है इसलिए 'सापेक्ष' है, उसका सापेक्ष होना अनिवार्य है। समुद्र का जल मछली के लिए मीठा है किन्तु मनुष्य के लिए खारा है, अग्रहणीय है। वीणा

के तार, विभिन्न प्रकार से खिंचते हैं किन्तु लक्ष्य एक ही रहता है। धनुष में बाण को गति देने के लिए दोनों हाथ, दो दिशाओं में खिंचते हैं। हेरेक्लाइटस का प्रभाव परवर्ती सभी.दार्शनिकों पर है। एम्पेडोक्लीज, हेरेक्लाइटस के 'अग्नि' को परम तत्व न मानकर भारतीय चार्वाक दर्शन की भाँति पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को नित्य, अविकारी और मौलिक मानते हैं। इन चारों महाभूतों का संयोग और वियोग, जिसे उन्होंने 'प्रेम' (लव) तथा 'विरोध' (डिस्कार्ड) कहा है, सृष्टि और विनाश का कारण है। भारतीय न्याय-वैशेषिक में आत्मा, परमात्मा तथा अदृष्ट का विशेष स्थान है किन्तु एम्पेडोक्लीज के दर्शन में आत्मा-परमात्मा का कोई स्थान नहीं है। एनेक्जे-गोरस (ई० पू० पाँचवी शताब्दी), इन चार महाभूतों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी जन्म देने वाले बीजों (सीड्स) की कल्पना करते हैं। ये बीज अनन्त हैं। सहसा वेग से गति उत्पन्न हुई जिससे समान प्रकृति के बीज परस्पर आकर्षित होकर मिले और मिलते चले गए और इस प्रकार सृष्टि प्रारम्भ हुई। लेकिन जो गति है उसका कारण कोई चेतन तत्व है जो परम विज्ञान 'नउस' है। यही बीजों का बीज है और विश्व में सामञ्जस्य और एकरूपता स्थापित करता है।

कार्ल मार्क्स ने अपने शोध-प्रबन्ध के लिए जिन दो ग्रीक दार्शनिकों— ल्यूसियस के शिष्य डिमाक्रटस (पाँचवी शताब्दी ई० पू०) तथा उनके विचारों के अनुयायी एपिक्यूरस (३४१-२७० ई० पू०) का चुनाव किया वे दोनों ही, परमाणुवादी थे और यह मानते थे कि चारों महाभूत मौलिक न होकर, मौलिक द्रव्यों के योग मात्र है। ये मौलिक द्रव्य ही परमाणु हैं जो मौलिक, अविभाज्य, अतीन्द्रिय, नित्य, उत्पत्ति-विनाश रहित जड़ तत्व हैं। गति इनका धर्म हैं। इनमें केवल संख्या, परिमाण और आकार का भेद है। आत्मा या विज्ञान कोई अलग तत्व नहीं है। वह भी परमाणुओं के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है। एपीक्यूरस, मनुष्य के रूप में ईश्वर की कल्पना, विविध प्रकार के देवी-देवता की कल्पना तथा इसी प्रकार के अन्य विचारों को मनुष्य के दु:खों की निवृत्ति में बाधक मानते हैं क्योंकि, प्रत्येक मनुष्य भय और दु:ख से मुक्ति चाहता है। ग्रीक में विचार-स्वातंत्र्य का समर्थन करने वाले सोफिस्टों में, पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के प्रोटेगोरस, मनुष्य को ही सभी पदार्थों का मानदण्ड स्वीकार करते हैं (होमो मंसूरा)। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन दार्शनिकों की भाँति, दर्शन को, बाह्य जगत की अपेक्षा, मनुष्य की अन्तरात्मा में स्थापित करने का प्रयास किया किन्तु, इससे उनका सापेक्षवाद, व्यक्तिवाद से आगे नहीं बढ़ सका। उनका कहना है कि रोगी का ज्ञान, उसका यथार्थ नहीं है। पीलिया के रोगी को सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देती है। दूसरे सोफिस्ट दार्शनिक जार्जियस भी यह मानते हैं कि सत्य सापेक्ष है और निरपेक्ष सत्य असम्भव है। जैन दर्शन का 'स्यादवाद' भी ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है।

ग्रीक दर्शन का विज्ञानवाद और आत्म-तत्व

दंभ और आडम्बर के प्रखर विरोधी साक्रेटीज (सुकरात) का जन्म ४७० ई० पू० और मृत्यु (विषपान द्वारा मृत्यु दण्ड) सन् ३९९ ई० पू० में हुई। उनके दर्शन का ज्ञान, मुख्यतया उनके शिष्य प्लेटो (अफलातून) की कृतियों से ही प्राप्त होता है। उनके अनुसार 'आत्मा' अमर है और उस दिव्य लोक की निवासी है जहाँ वह उन विज्ञानों का साक्षात्कार करती है जिनकी वास्तविक सत्ता है। इस लोक में, शरीर के आवरण में रहकर आत्मा का दिव्य ज्ञान क्षीण होने लगता है वह उन्हें पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाती क्योंकि हमारा सांसारिक ज्ञान इन्द्रियानुभूतियों पर आधारित है और यह इन्द्रियानुभूति उन दिव्य विज्ञानों पर पर्दा डाल देती है जिनका साक्षात्कार आत्मा ने दिव्य लोक में किया है। इन्द्रियों पर नियंत्रण रखकर, उनसे निर्लिप्त रहकर, हम आत्मज्ञान से दिव्य विज्ञानों का साक्षात्कार कर सकते हैं।

प्लेटो (अफलातून ४२८-३४७ ई० पू०) ने, अपने पूर्ववर्तियों के सिद्धान्तों का विश्लेषण कर, दार्शनिक-चिन्तन को, इस प्रकार चरमोत्कर्ष तक पहुँचाया कि यह सामान्य धारणा बन गई कि योरोपीय दर्शन, प्लेटो के दर्शन की व्याख्या-विश्लेषण के आधार पर विकसित हुआ है। प्लेटो की महान कृतियाँ 'एपॉलोजी', 'क्राइटो', 'फ़ीडो', 'सिम्पोजियम' तथा 'रिपब्लिक' आदि संवादों के रूप में हैं। प्लेटो ने अपने सिद्धान्तों की व्याख्या अपने शिष्यों को दिए गए उपदेशों में की है। ये अंश भी महत्वपूर्ण हैं। प्लेटो का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'विज्ञानवाद' (थियरी ऑफ आइडियाज) विवादास्पद होते हुए भी, अपने मूल रूप में साक्रेटीज का सिद्धान्त है। अपने पूर्ववर्तियों के मतों के संदर्भ में प्लेटो ने इसका विकास किया है। प्लेटों का इन्द्रिय जगत 'असत्' नहीं है। वे जगत को 'सत्' और 'असत्' की संतान अथवा पूर्ण ज्ञान और पूर्ण अज्ञान के बीच की अवस्था मानते हैं। 'रिपब्लिक' में इसे 'अर्ध सत्' और 'अर्ध असत्' कहा गया है। परम तत्व के सम्बन्ध में प्लेटो का कहना है कि जो ज्ञेय अर्थात् विज्ञानों को, सत्ता और ज्ञाता अर्थात् आत्मा को, ज्ञान-शक्ति देता है, वह विज्ञान स्वरूप 'शिव तत्व' है और विज्ञान और सत्य का भी कारण है। इन्द्रियानुभव का जगत छाया मात्र है। हम इसको देखने के अभ्यस्त हैं। हम, बन्धन मुक्त होकर, निर्विकल्प अनुभूति से 'शिव तत्व' का साक्षात्कार कर सकते हैं। प्लेटो का 'शिव तत्व'— एक साथ सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् है। यह ईश्वर और विज्ञान दोनों का कारण है। यह सत्ता और ज्ञान का मूल स्रोत है।

जीवात्मा के तीन अंग— बुद्धि (कोगनीशन), संकल्प (कोनेशन) और वेदना (एफेक्शन) के धर्म क्रमशः ज्ञान (विशडम), बल (करेज) और संवेदनात्मक क्रिया (एपीटाइट) हैं। इन तीनों का संतुलन ही योग है, न्याय है। इन्हीं की प्रधानता के कारण, मनुष्यों को भी तीन प्रधान जातियों अर्थात् संरक्षक (गार्जियन्स) सैनिक (सोल्जर्स) तथा पृथग्जन (आर्टिजन्स) में विभक्त किया जा सकता है। प्लेटो, प्रजातंत्र को इसलिए नहीं मानते क्योंकि इसमें ज्ञान प्रधान नहीं होता।

एरिस्टोटेल (अरस्तू- ३८४-३२२ ई० पू०) का विचार है कि प्लेटो ने विज्ञान-जगत (आइडिया) को इन्द्रियानुभव (सेन्सेज) अर्थात् वस्तु जगत से नितान्त भिन्न और असम्बद्ध मान लिया है। अतः, विज्ञान जगत ही एकमात्र सत् और वस्तु जगत सर्वथा असत् बन गया है। एरिस्टोटेल विज्ञान जगत को, वस्तु जगत से भिन्न न मानकर, उसी से अनुस्यूत मानते हैं। विज्ञान प्रधान अवश्य है किन्तु वस्तु जगत की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार 'सामान्य' (फार्म अथवा यूनिवर्सल), वास्तविक है, सत्य है। सामान्य, वस्तुगत अर्थात् विभिन्न वस्तुओं में अनुस्यूत (इमानेन्ट) है। वस्तुतः, सामान्य ही, हमारे ज्ञान का विषय है और विविध विज्ञानों (साइंस) का कार्य, विभिन्न पदार्थों में अनुस्यूत, 'सामान्य' का ज्ञान प्राप्त करना है। सामान्य, विज्ञान स्वरूप है, चेतन है। वस्तु जगत में, प्रत्येक तत्व (सब्सटेन्स) में, द्रव्य (मैटर) और स्वरूप (फार्म)— दो भाग हैं। स्वरूप, तो सामान्य है जो एक जाति के सभी तत्वों में समान है। द्रव्य, विशेषता (इन्डिविजुआलिटी) का द्योतक है। द्रव्य, परिणाम और गति का आधार है। संसार की प्रत्येक वस्तु, न तो विशुद्ध स्वरूप है और न विशुद्ध द्रव्य किन्तु, दोनों की विशुद्ध सत्ता है। हम 'स्वरूप' के रूप में ईश्वर (प्योर फार्म) को और द्रव्य के रूप में 'प्रकृति' (मेटेरिया प्राइमा) को स्वीकार कर सकते है। एरिस्टोटेल द्रव्य को साध्य (पोटेन्शियलिटी) और स्वरूप को सिद्ध (एक्चुअलिटी) कहते हैं। संसार की वस्तुओं में जो तारतम्य है वह अखंड है। उनकी यह व्याख्या कुछ-कुछ विशिष्टाद्वैतवाद जैसी है।

स्ट्रोइक मत के जीनो (३३६-२६४ ई० पू०) जीवात्मा को, परमात्मा का अंश मानते हैं और मुक्ति के समय, जीवात्मा और परमात्मा के 'तादात्म्य' को स्वीकार करते हैं। प्लोटाइनस (२०४-२७० ई० पू०) का जन्म मिस्र देश में हुआ। इन पर भारत के दार्शनिक विचारों का प्रभाव था। प्लेटो के भी अनन्य भक्त थे। उनके अनुसार परम तत्व— एकमेवाऽद्वितीय, शुद्ध सत् है। वह निर्गुण, निराकार, अन्तर्यामी और परात्पर है। इसके बाहर कुछ भी नहीं क्योंकि सब कुछ यही है— 'सर्व खलु इदं'। आत्मा ईश्वर की पुत्री है। विज्ञान स्वरूप होने से यह आत्मा

नित्य है। मृत्यु के बाद, जीवात्मा का पुनर्जन्म मानना उपयुक्त है क्योंकि कर्मों के फल को तो जीव को भोगना ही पड़ता है।

योरोप का मध्ययुगीन दर्शन और आत्म-तत्व

मध्य युग के गण्यमान्य दार्शनिकों में जॉन स्कॉट एरिजिना (८१०-८८० ई०) मुख्य हैं। उनके अनुसार ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है। मुक्त जीवों के लिए 'निर्गुण' और बद्ध जीवों के लिए 'सगुण'। निर्गुण तो अनिर्वचनीय है ही, 'परमपिता' है। पिता के साथ पुत्र की सत्ता भी आवश्यक है। यह पुत्र नित्य ज्ञान स्वरूप (इटरनल लोगोस) है जो पिता के भीतर स्थित है। यही शुद्ध आत्मा है। विश्वात्मा (वर्ल्ड सोल), जीवात्माएँ तथा जड़ जगत इसी के द्वारा उत्पन्न हैं। यह पुत्र पिता द्वारा रचित है और स्वयं ही 'चित्' और 'अचित्' का स्रष्टा है।

एरिजिना के बाद संत एत्सेल्म (१०३५-११०९) तथा एवेलार्ड मीस्टर एखार्ट (१०७९-११४२) आदि ने ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व को भारतीय ढंग से ही स्वीकार किया है।

फ्रांस के दार्शनिक रेने डेकार्त (१५९६-१६५०), आत्मा और शरीर दोनों को पृथक् और स्वतंत्र मानते हैं। दोनों के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए, वे वायुयान और उसके चालक को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। डेकार्त, क्रिया-प्रतिक्रियावाद (इंटरैक्शनिज्म) के आधार पर यह मानते है कि शरीर की क्रिया से आत्मा में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। जिसके कारण आत्मा को बाह्य जगत की जानकारी मिलती है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया से शरीर में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। यह क्रिया-प्रतिक्रिया 'पीनियल ग्रन्थि' के माध्यम से घटित होती है। डेकार्त के इस द्वैतवाद में क्रिया-प्रतिक्रिया की संगति पर कई प्रश्न-चिन्ह भी लगे हुए हैं।

भारत के अद्वैतवाद का ही एक रूप हालैण्ड के यहूदी दार्शनिक बेनेडिक्ट स्पिनोजा (१६३२-१६७७) के दर्शन में देखा जा सकता है। जहाँ आत्मा और शरीर के बीच पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए उन्होंने समानान्तरवाद की स्थापना की। डेकार्त के क्रिया-प्रतिक्रिया को असंगत बताते हुए वे कहते हैं कि देह और आत्मा दोनों स्वतंत्र द्रव्य न होकर दोनों ईश्वर के विस्तार और चैतन्य नामक गुणों के रूप हैं जो समानान्तर धाराओं के रूप में प्रवाहित होते रहते हैं। स्पिनोजा जीव को 'स्वयंसिद्ध' और 'स्वयंप्रकाश' नहीं मानते। वास्तविक आत्मा, परमात्मा है जो अद्वैत स्वरुप है। यह परमात्मा ही स्वयंसिद्ध और स्वयं प्रकाश है। स्पिनोजा, ईश्वर के प्रेम में चैतन्य महाप्रभु की भाँति, अर्धविक्षिप्त की तरह (गॉड इन्टॉक्सिकेटेड) थे।

आत्मानुभव में इन्द्रियानुभव की प्रतिष्ठा

शेक्सपियर के समकालीन फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६), साहित्यकार, राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक होने के साथ-साथ, आधुनिक युग के प्रथम व्याख्याता माने जा सकते हैं यद्यपि यह गौरव डेकार्त को मिला है। बेकन, अतीन्द्रिय परमार्थ को व्यर्थ और काल्पनिक तथा इन्द्रियानुभव को ही सत्य मानते हैं। वे ज्ञान का सम्बन्ध, दर्शन और धर्म से न मानकर, उसका सम्बन्ध भौतिक विज्ञान से मानते हैं। उनका कहना है कि हम ज्ञान की खोज में, अपने साथ अपने अंधविश्वास, पक्षपात और अपनी इच्छाएँ भी साथ ले चलते हैं। परिणाम यह होता है कि प्रकृति के गुणों का निरीक्षण करते समय हम अपने विश्वास भी उन पर लाद देते हैं। ये अंधविश्वास (आइडोला) चार प्रकार के हैं— संस्कारों के रूप में विद्यमान 'जातीय अंधविश्वास' (आइडोला ट्राइबस), शिक्षा और संस्कार के कारण सीमित काल्पनिक क्षेत्र के नितान्त 'वैयक्तिक अंधविश्वास' (आइडोला स्पेकस), शब्दों के भावों तथा प्रतीकों आदि में उलझे, मत-मतान्तरों वाले 'भाषायी अंधविश्वास' (आइडोला फोरी) तथा धर्म, दर्शन, शास्त्र आदि द्वारा प्रचारित शब्द-प्रमाण आदि के 'भाषण मंच के अंधविश्वास' (आइडोला थियेटर)।

इन्द्रियानुभव के साथ आगमनात्मक तर्क भी आवश्यक है। इन्द्रियों को शक्ति, विज्ञान से मिलती है जिससे इन्द्रियानुभव की घटनाओं के भावात्मक और अभावात्मक दोनों पक्ष सामने आ सकते हैं।

टामस हाब्स (१५८८-१६७९) भी इन्द्रिय गोचर को सत्य मानते हैं। उनके अनुसार इन्द्रियानुभव (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द) से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी पूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय संवेदन, गतिशील बाह्य पदार्थों के कारण मस्तिष्क में होने वाले परिवर्तन हैं। बाह्य पदार्थ का स्वरुप क्या है यह हम नहीं जानते। जड़ ही एक मात्र तत्व है। ईश्वर तथा आत्मा आदि अमूर्त चेतन पदार्थ सब कल्पना मात्र हैं। इन्द्रियानुभव को ज्ञान का स्रोत मानने वालों में इंगलैंड के जॉन लॉक (१६३२-१७०४), आत्मा को एक आध्यात्मिक द्रव्य मानते हैं अर्थात् आत्मा कोई भौतिक द्रव्य नहीं है। ज्ञान, इस आत्मा का स्वयं का नहीं वरन् एक आगन्तुक गुण है। जब तक बाह्य वस्तु आत्मा को प्रभावित नहीं करती, वह विज्ञानों को ग्रहण नहीं करती। विज्ञान से उनका तात्पर्य उस अभिव्यक्ति से है जो कल्पना (फैन्टम), बोध (नोशन) तथा जाति (स्पिसीज) से बनती है अथवा प्रत्यक्ष विचार या बुद्धि के अपरोक्ष विषय को विज्ञान कहते हैं। हमें अपनी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान, आन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा, जड़ जगत का ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा तथा

आयरलैंड के जार्ज बर्कले (१६८५-१७५३) का कहना है कि आत्मा का विज्ञान (आइडिया) नहीं होता केवल बोध (नोशन) होता है। आत्मा, प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। विज्ञान, इन्द्रिय-संवेद्य (सेन्सिबुल) होता है और बोध, बुद्धिगम्य (इन्टेलीबुल) है। इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने से विज्ञान, पशुओं के लिए भी सुलभ है। बोध, वस्तु-ज्ञान से भिन्न अर्थ-ज्ञान है। इसे पशु कदापि नहीं समझ सकते। इसी बोध प्रणाली के माध्यम से आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए बर्कले कहते हैं कि विज्ञान या सांसारिक वस्तुएँ दृश्य हैं जबकि आत्मा अदृश्य तत्व है। आत्मा की सत्ता प्रत्यक्षीकृत (पर्सी पी) होने में नहीं वरन् प्रत्यक्षकर्ता या द्रष्टा (पर्सीपर, अथवा इन्टेलीजर) होने में है। द्रष्टा के अस्तित्व के बिना दृश्य की कल्पना नहीं हो सकती। अत:, आत्मा का अस्तित्व अनिवार्य है।

स्काटलैण्ड के डैविड ह्यूम (१७११-१७६०) भी अनुभववाद के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं किन्तु, उनका दर्शन संशयवाद के रूप में है जिसमें आत्म-तत्व तथा ईश्वर-तत्व दोनों को निराकृत किया गया है। उनका कहना है कि अन्तदर्शन द्वारा किसी नित्य संस्कार का दर्शन नहीं होता। अत: नित्य-कूटस्थ आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। बिना संवेदन या विज्ञान के हम अपनी आत्मा को कभी पकड़ नहीं सकते और विज्ञान या संवेदन में किसी अतिरिक्त की अनुभूति होती भी नहीं। जब विज्ञान या संवेदना के अनुभव निद्रा की दशा में अलग हो जाते हैं तब, अपनी आत्मा का अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार, मृत्यु द्वारा, जब सभी अनुभव मिट जाएंगे, पूरा का पूरा असत् रह जाएगा। आत्मा केवल एक नाम है जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। ह्यूम का दर्शन बौद्धों के क्षणभंगवाद के निकट है।

बुद्धिवाद से विज्ञानवाद तक— जर्मनी के दार्शनिकों की दृष्टि में आत्म-तत्व

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिकों में लाइब्नित्ज, काण्ट तथा हीगल ने दर्शन में विज्ञानवाद को प्रतिष्ठित किया। गॉटफ्रिड विल्हेल्म लाइब्नित्ज (१६४६-१७१६) बुद्धिवाद परम्परा के श्रेष्ठ दार्शनिक हैं। उनके अनुसार, संसार की सभी वस्तुएँ चिदणुओं से बनी हैं और सभी चिदणु चैतन्य के केन्द्र हैं। इसका तात्पर्य यह है कि चेतन चिदणु के अतिरिक्त, किसी जड़ या शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसी स्थिति में आत्मा और शरीर के परस्पर सम्बन्धों का प्रश्न ही नहीं उठता। यह जो व्यक्ति या प्राणी है वह असंख्य चिदणुओं का समूह है। इसी में श्रेष्ठ और सर्वाधिक चैतन्य वाले चिदणु को 'आत्मा' कह सकते हैं और शेष चिदणु समूह को शरीर की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे मधुमक्खियों में रानी मक्खी। इमैन्युएल काण्ट (१७२४-१८०४) आलोचनात्मक विज्ञानवाद के प्रबल समर्थक थे। उनके अनुसार विषयों एवं वस्तुओं की सम्बद्धता और एकता तब तक संभव नहीं है

जब तक इनके मूल में चैतन्य की एकता (यूनिटी आफ कान्ससनेस) न पाई जाय। चैतन्य की एकता के अभाव में वस्तुओं का अवबोध सम्भव ही नहीं हो सकता। यह जो मौलिक, विशुद्ध एवं कूटस्थ चैतन्य है इसे काण्ट ने अतीन्द्रिय समाकल्पन (ट्रान्सडेन्टल एपरसेप्शन) की संज्ञा दी है। भारतीय वाङ्मय में उसे विशुद्ध आत्मा (प्योर सोल) कहते हैं। चैतन्य, आत्मा का स्वभाव है। यह अद्वय तत्व है। इसमें किसी प्रकार की अनेकता या नानात्व की कल्पना नहीं की जा सकती। विषय चैतन्य (आब्जेक्ट कान्ससनेस) के मूल में आत्म-चैतन्य निहित रहता है। मीमांसा दर्शन में प्रभाकर ने त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद में यह संकेत किया है कि प्रत्येक विषय वित्ति में अहम् वित्ति शामिल होती है जिसके अभाव में ज्ञान सम्भव ही नहीं हो सकता। आत्मज्ञान एक सहज स्वाभाविक ज्ञान है यह कोई आगन्तुक ज्ञान नहीं है। यह अपरोक्ष अनुभूतिं है– काण्ट के अतीन्द्रिय समाकलन का यही तात्पर्य है।

जार्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिक हेगल (१७७०-१८३१) अपने पूर्ववर्ती , फ्रेडरिक विल्हेल्म जोजेफ शेलिंग की इस बात से सहमत है कि जीवात्मा और प्रकृति, दोनों का मूल स्रोत परम तत्व है जो आत्म चैतन्य रूप है। शेलिंग का परम तत्व, अद्वैतवाद की तरह है जबकि हीगल, इसे विशिष्टाद्वैतवाद की तरह देखते हैं जिसमें द्वैत तथा अद्वैत दोनों है। हेगल के दर्शन में, प्रकृति के सार तत्व के रूप में आत्मा की उत्पत्ति हुई। आत्मा और प्रकृति के बीच भेद तो है किन्तु, उन्हें एक ही स्तर की, दो समकक्ष सत्ताएँ मानना ठीक नहीं है। प्रकृति और आत्मा के बीच का सम्बन्ध विशेष और सामान्य का सम्बन्ध है जिसे अरस्तू ने द्रव्य (मैटर) और स्वरूप (फार्म) कहा है।

विज्ञानवाद का प्रभाव– 'आत्म-तत्व' की अस्वीकृति का प्रश्न

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में, काण्ट और हेगल के विचारों से प्रभावित, विज्ञानवादी दार्शनिकों की श्रृंखला में, एफ० एच० ब्रेडले (१८४६-१९२४) के विचार विशेष महत्वपूर्ण हैं। अपनी दो खण्डों में प्रकाशित पुस्तक 'आभास एवं सत्' (ऐपियरेन्स एण्ड रियलिटी) में उनके यथार्थवादी चिन्तन का जो प्रवाह है उसमें वे 'आत्मा' को सत् न मानकर आभास मात्र ही मानते हैं और उसे जीवात्मा से अधिक किसी और स्तर पर नहीं ले जाना चाहते।

उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, भ्रम और विभ्रम की जो स्थिति है वह जीवन का यथार्थ है जो हमें यह सोचने को बाध्य करता है कि यह जगत जो प्रत्यक्ष है– सत् है या असत्। अनुभव से यही सिद्ध होता है कि यह जगत एक आभास है। अर्थात् जगत जिसका हमें इस रूप में ज्ञान है, आत्मबाधित है अतः, वह आभास मात्र है, सत् नहीं। किसी वस्तु के सत् होने के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वतंत्र (सेल्फ डिपेन्डेन्ट) और आत्म-संगत (सेल्फ कन्सिस्टेन्ट) हो किन्तु

ये बातें उपगुणों पर लागू नहीं होतीं। जैसे, रंग— कोई रंगीन वस्तु सबको एक समान दिखाई नहीं देती, वर्णान्धता भी हो सकती है। कुछ लोगों का विचार है कि रंग वस्तुओं का नहीं, आँखों का गुण है। ब्रैडले इसे स्वीकार नहीं करते क्योंकि रंग यदि आँखों का गुण है, आँख में पाया जाता है तो इसे जानने के लिए भी, आँख की आवश्यकता होगी और उस आँख के लिए दूसरी आँख की। इस प्रकार यह सिलसिला अनन्त हो सकता है। इस तर्क में अनवस्था दोष है। शीतोष्ण— जो शरीर की स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न परिमाण में अनुभूत होता है। ध्वनि— एक ही ध्वनि सभी कानों को एक-सी सुनाई नहीं देती। गन्ध और स्वाद— भिन्न नासिकाओं एवं जिह्वाओं द्वारा गन्ध और स्वाद को अनेक रूपों में अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के सामीप्य से जिस प्रकार वस्तुओं के उपगुणों की स्थापना हो सकती है उसी प्रकार यह बात स्वयं ज्ञानेन्द्रियों पर भी लागू होती है।

आत्मा को अनुभूतियों के समुच्चय के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि अनुभूतियाँ विषय वस्तु से सम्बन्धित होती है और बाह्य वस्तुओं के बिना हम उनकी कल्पना नहीं कर सकते। आत्मा, किसी क्षण की अनुभूति का संग्रह भी नहीं है। ब्रैडले ने अन्ततः देहात्मवाद, अनुभूति के समुच्चय के रूप में आत्मा, औसत व्यक्तित्व के रूप में आत्मा, चिदणुओं के रूप में आत्मा, आत्म-चेतना के रूप में आत्मा और व्यक्तिगत अन्यन्यता के रूप में आत्मा आदि सभी पूर्ववर्ती मान्यताओं को क्रमशः निराकृत करने का प्रयास किया है। आत्मा के सम्बन्ध में जितनी कल्पनाएँ हैं, सभी का निषेधात्मक महत्व है क्योंकि आत्मा का, इस प्रकार खंडित इकाईयों के विचारों का, महत्व नहीं है। यह कल्पना मूल्यवान् इसलिए है कि यह स्मृति को एक ठोस आधार प्रस्तुत करती है। ब्रैडले इसे मनोवैज्ञानिक दानव (साइकॉलोजिकल मोन्स्टर) कहते हैं।

न्यूयार्क के विलियम जेम्स (१८४२-१९१०) अध्यात्मकवाद (स्प्रि-चुलिज्म), अतीन्द्रियवाद (ट्रान्सडेन्टलिज्म) तथा अनुभववाद (इम्पेरीसिज्म) तीनों मान्यताओं के विपरीत आत्मा को, चैतन्य की एक अजस्त्र धारा के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने इस व्याख्या में जीव विज्ञान तथा शरीर विज्ञान को आधार बनाया। उनके अनुसार आत्मा, कोई शाश्वत सत्ता (अध्यात्मवाद) न होकर परिवर्तनशील एवं विकास मान इकाई है जो शरीर के विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। इस प्रकार जेम्स की 'आत्मा' कालगत है। अनुभववाद आत्मा को स्वतंत्र एवं विभिन्न इन्द्रियानुभवों के रूप में स्वीकार करता है। जेम्स इसके विपरीत आत्मा को चैतन्य की एक अजस्त्र धारा के रूप में देखते हैं।

जॉन डेवी (१८५९-१९५२) भी अमेरिका के सुप्रसिद्ध दार्शनिक हैं । उनके दर्शन को उपकरणवाद (इन्स्ट्रूमेन्टलिज्म) और प्रयोगवाद (एक्सपेरीमिन्टलिज्म) के आधार पर समझना होगा । उनका कहना है कि हम जीव और वातावरण की क्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न वस्तु को अनुभव कहते हैं और जो वस्तु हमारे अनुभव की वस्तु नहीं बन सकती उसका कोई महत्व नहीं है । डेवी, किसी स्थिर और शाश्वत जगत में विश्वास नहीं करते । उनके अनुसार जगत प्रवहमान, परिवर्तनशील और अस्थिर वस्तु है ।

विलियम जेम्स, जॉन डेवी तथा अन्य अर्थक्रियावादी दार्शनिकों ने ईश्वर तथा आत्मा की अमरता आदि को इसलिए अस्वीकार नहीं किया कि इनके व्यक्तित्व के लिए यथेष्ट प्रमाण नहीं है बल्कि वे, इन्हें इसलिए स्वीकार भी करते हैं कि जीवन में इनकी व्यावहारिक उपयोगिता भी है । आस्था और विश्वास हमारे जीवन के आरम्भिक बिन्दु हैं ।

भारतीय दर्शन की नवीन प्रवृत्तियाँ और आत्म-तत्व

भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा को भौतिक रूप में या जीवात्मा के पर्याय के रूप में स्वीकृति देने की अपेक्षा, अधिकांशत: इसे अतीन्द्रिय या अपरोक्ष ज्ञान से सम्बन्धित माना है । यद्यपि आत्मा के अस्तित्व को काल्पनिक मानकर उसे अस्वीकृत कर देने का साहस भी, अनेक दार्शनिकों ने किया है फिर भी, मानसिक क्रिया-कलापों के रूप में, इसकी चैतन्य संप्रभुता को नकारने का साहस अनात्मवादियों ने ही दिखाया है । वेदान्त की विरोधी धाराएँ भी हैं । उदाहरणार्थ मध्वाचार्य उग्र द्वैतवादी हैं । अद्वैतवादियों को वे 'मायिदानवा:' कहते हैं जो अज्ञानान्धकार में उछलकूद मचाते हैं और जो तर्कागम युक्त द्वैत सूर्य के उदय होते ही भाग जाते हैं—

पलायध्वं पलायध्वं त्वरया मायिदानवा:
सर्वज्ञो हरिरायाति तर्कागमदरारिभूत् ।— तत्वोद्योत

निम्बार्क ने द्वैताद्वैत के रूप में पुराने आचार्यों के मतों को पुनरुज्जीवित किया । वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद या पुष्टि मार्ग, अत्यन्त प्रतिष्ठित है । श्री अरविन्द (१८७२-१९५०) भारतीय दार्शनिकों में सबसे नवीन हैं । उनकी महत्वपूर्ण दार्शनिक कृति 'दिव्य जीवन' (दी लाइफ डिवाइन) है । अरविन्द का दर्शन पूर्णाद्वैत (इन्ट्रीगल अद्वैतिज्म) कहा जाता है । उनके अनुसार नित्य, निरपेक्ष, अनन्त, निर्विकल्प, अलक्षणीय और स्वतंत्र ब्रह्म ही परम तत्व है । यह सर्वथा अज्ञेय इसलिए नहीं है कि हमारा आत्म-तत्व, दिव्य ब्रह्म से अभिन्न है । श्री अरविन्द ने ब्रह्म के स्वचैतन्य को, जो उसकी अभिव्यक्ति की शक्ति भी है— 'अतिमानस' नाम

दिया है। यह 'अतिमानस', शुद्ध ज्ञान और शुद्ध शक्ति का अद्भुत समन्वय है। अतिमानस, दिव्य सच्चिदानन्द का स्वयं का ज्ञान है जो एक साथ उसकी स्वाभिव्यक्ति की शक्ति भी है। अतिमानस से ब्रह्म में आत्म परिसीमन और आत्माभिव्यक्ति भावकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। सच्चिदानन्द एक होते हुए भी इसी प्रक्रिया को, अपने ऊपर आरोपित कर, स्वयं को असंख्य आनन्दस्वरूप, नित्य जीवों के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। हम मानवों के ये नित्य जीव ही वास्तविक जीवात्मा हैं किन्तु, ये दिव्य लोक में रहते हैं तथा मृत्युलोक में नहीं उतरते। प्रत्येक दिव्य जीवात्मा, मृत्युलोक में अपनी एक दिव्य किरण या स्फुलिंग भेजता है। इस किरण को श्री अरविन्द ने 'चैत्य सत्ता' का नाम दिया है जो जड़ और प्राण दोनों में अन्तर्निहित रहती है। मानव में यह विकसित रूप प्राप्त करती है और यह 'चैत्य पुरुष' बन जाती है। श्री अरविन्द के अनुसार यह 'चैत्य पुरुष' ही मानव की अन्तरात्मा है जो अपने दिव्य जीवात्मा का प्रतिनिधित्व करती है और हमेशा उसके सम्पर्क में भी रहती है, भले ही मानव को इसका ज्ञान न हो।

शैव और शाक्त सम्प्रदाय में भी अनेक मत-मतान्तरों के बीच 'आत्मा' को नये रूप में पहचानने की कोशिश की गई है।

समकालीन पाश्चात्य दर्शन और आत्म-तत्व

समकालीन दर्शन को विश्लेषण का युग (दी एज आफ एनालिसिस) कहा जाता है। समकालीन दर्शन की विज्ञानवादी दार्शनिक प्रवृत्तियाँ, हेगल के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुई हैं। हेगल के विज्ञानवाद ने, न केवल उपकरणवाद (इन्स्ट्रूमेन्टलिज्म), अस्तित्ववाद (एक्जिस्टेन्शनलिज्म) और मार्क्सवाद (मार्क्सिज्म) को प्रभावित किया बल्कि किसी न किसी रूप में बीसवीं शताब्दी की कुछ महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों के साथ, तार्किक प्रत्यक्षवाद (लॉजिकल पाजिटिवनेस) को भी प्रभावित किया है। वास्तव में जॉन डेवी, कीर्केगार्ड, कार्ल मार्क्स, बर्ट्रेण्ड रसेल तथा जी० ई० मूर आदि सभी, अपने दार्शनिक अध्ययन के प्रारम्भिक दौर में हेगल से प्रभावित रहे हैं।

बर्ट्रण्ड रसेल (१८७२-१९७०), लार्ड रसेल के पौत्र हैं जो तीन बार इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री रह चुके हैं। रसेल ने आत्मा और जड़ तत्व के द्वैत को मिटाकर, तटस्थ एकतत्ववाद (नेचुरल मोनोइज्म) की स्थापना की। जिस प्रकार रसेल ने भौतिक वस्तुओं को, इन्द्रिय प्रदत्तों (सेन्स डेटा) को तार्किक रचना माना है उसी प्रकार उन्होंने आत्माओं को, इन्हीं इन्द्रिय प्रदत्तों के तार्किक गल्प (लॉजिकल फिक्शन) की संज्ञा दी है। अर्थात् तटस्थ इन्द्रिय प्रदत्तों का एक संस्थान भौतिक वस्तुओं को जन्म दे सकता है तो दूसरी आत्माओं को भी उत्पन्न कर सकता है।

रसेल जब तार्किक रचना तथा इन्द्रिय प्रदत्तों (सेन्स डेटा) की बात करते हैं तो इसे समझने के लिए उदाहरणों की आवश्यकता होगी। जब हम 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग करते हैं तो सामान्य अभिप्राय में यह प्रयोग 'मनुष्यत्व' के लिए है। यहाँ मनुष्य केवल वर्णनात्मक ज्ञान है साक्षात् ज्ञान नहीं है। ऐसी स्थिति में 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग जिस वस्तु के लिए किया गया वह तार्किक रचना है। दूसरे उदाहरण में, मेज और कुर्सी प्रत्यक्ष होते हुए भी, हो सकता है कि उनका अस्तित्व न हो। अतः, रसेल के अनुसार हमारा साक्षात् सम्पर्क केवल इन्द्रिय प्रदत्तों के साथ ही होता है। इन इन्द्रिय प्रदत्तों के आधार पर हम बाह्य वस्तुओं का अनुमान कर लेते हैं।

रसेल का कहना है कि हम आत्माओं पर इसलिए विश्वास नहीं करते कि अनुभव द्वारा हमें उनकी प्रतीति होती है बल्कि इसलिए विश्वास करते हैं कि उनके द्वारा व्याकरण की आवश्यकता की पूर्ति होती है। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने आत्मा और जड़ तत्व दोनों में विश्वास नहीं किया। उसी प्रकार बर्ट्रण्ड रसेल भी दोनों को निराधार कल्पना (ग्रैचुसस एजम्पशन) मानते हैं।

लुडविग विटगेन्टाइन (१८८९-१९५४) बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक प्रतिभाशाली दार्शनिक थे। वियना के इस दार्शनिक ने अनेक आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया। उनका कहना है कि दर्शन का प्रारम्भ जीवन की पहेलियों एवं उलझनों से होता है। दार्शनिक समस्याएँ बाह्य नहीं आन्तरिक हैं। यह एक बौद्धिक व्याधि है जो किसी वैचारिक विकृति के कारण उत्पन्न होती है। इनके समाधान के लिए हम जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं वे समस्याओं से अधिक उलझनपूर्ण होते हैं।

हमें ज्ञात है कि किसी विषय के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्रकार के कथनों की बार-बार आवृत्ति से, हमारे मन में, उसका एक चित्र या उसकी प्रतिमा उभरकर प्रत्यक्ष हो जाती है और धीरे-धीरे हम इस चित्र या प्रतिमा के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हमारा ज्ञान और हमारा विश्वास भी उसी प्रतिमा के अनुरूप बन जाता है। यह प्रक्रिया इतनी प्रबल है कि एक चित्र बन जाने पर, दूसरे किसी भिन्न चित्र के लिए, मन के पटल पर कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। शब्दों की बार-बार आवृत्ति से मन में देश-काल सम्बन्धी चित्र भी उपस्थित हो जाता है और इस प्रकार देश-काल भी भौतिकनिष्ठ तत्व बन जाता है और इस भौतिक ढाँचे में वस्तुएँ, उसके भीतर समाहित रहती हैं।

मन या 'आत्मा' के सम्बन्ध में ऐसी भाषीय उक्तियों या कथनों की बार-बार आवृत्ति से हमारे मन या आत्मा में एक ऐसा चित्र निर्मित हो जाता है कि लगता

है कि मन या आत्मा भी भौतिक तत्वों के समान एक तत्व है। ऐसे चित्र इतने शक्तिशाली होते हैं कि हम अपने चिन्तन और व्यवहार दोनों में इनके दास बन जाते हैं। साधारण व्यक्ति को तो इस प्रकार के चित्र किसी प्रकार की उलझन में नहीं डालते किन्तु दार्शनिक दृष्टि से जब विषयों पर विचार किया जाने लगता है तो इन पूर्व निहित चित्रों से अनेक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं।

गिलबर्ट राइल (१९००-१९७६) ब्रिटेन के निवासी थे। अपनी पुस्तक 'मन की अवधारणा' (कन्सेप्ट आफ माइंड) में राइल ने आत्मा के प्रत्यय का विश्लेषण किया है जिसमें उन्होंने आत्मा को विविध घटनाओं में घटित करने की चेष्टा की है। उन्होंने डेकार्त द्वारा प्रतिपादित आत्मा और शरीर के आधिकारिक सिद्धान्त (आफिसियल डाक्ट्रिन्स) को लक्ष्य करते हुए कहा कि यह सिद्धान्त आत्म-तत्व को एक भौतिक कलेवर में प्रतिष्ठित कर देता है। इसलिए यह 'मशीन में स्थित प्रेत' (घोस्ट इन दी मशीन) का सिद्धान्त है। राइल का विश्लेषणात्मक सिद्धान्त इसके निराकरण से प्रारम्भ होता है। 'कन्सेप्ट आफ माइंड' के अनुसार हम अपने दैनिक जीवन में ऐसी उक्तियों का प्रयोग करते है जिससे यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि हमारे शरीर में एक आत्मा है जो हमारे कार्यों को संचालित करती है। राइल के अनुसार यह एक 'मिथ' है जिसके पीछे कोई तार्किक सिद्धान्त नहीं है। सामान्यतया किसी चेतन या मानसिक क्रिया के विषय में विचार करते समय हम यह मान लेते हैं कि हमारे शरीर के भीतर एक शाश्वत आत्म-तत्व है जो अदृश्य तो है किन्तु, हमारी चेतन या मानसिक क्रियाओं द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। राइल इसे भ्रान्त धारणा मानते हैं। चेतन या मानसिक क्रियाओं से सम्बन्धित कथन किसी अदृश्य, शाश्वत आत्मा के विषय में न होकर, उन्हीं चेतन या मानसिक क्रियाओं के विषय में ही होते हैं।

एडमंड हुसर्रल (१८५९-१९३८) का जन्म जर्मनी में हुआ। अपनी पुस्तक 'लॉजिकल इन्वेस्टीगेशन' में उन्होंने आभासकी (फिनोमिनॉलोजी) को आत्मनिष्ठ प्रक्रिया के विश्लेषण के रूप में प्रयुक्त किया है। सामान्यतया इसके पूर्व आभास-की या संवृत्ति शास्त्र का प्रयोग उन तमाम आभासों के लिए किया गया जो अनुभावक ज्ञान के मूल में है अर्थात् यह शब्द आभासों के विज्ञान (साइंस आफ एपियरेन्सेज) के अभिप्राय में आया है। काण्ट ने भी इसका प्रयोग इसी अभिप्राय में किया। हेगेल ने 'फिनोमिनॉलोजी आफ माइंड' में, इस शब्द का प्रयोग, नितान्त भिन्न अर्थ अर्थात् 'आत्मा के विज्ञान' (साइंस आफ स्पिरिट) के अभिप्राय में किया। हुसर्रल, इस आभासीय विधि से ऐसे आद्य प्रदत्त तक पहुँचना चाहते हैं जो सभी प्रकार के ज्ञान का आधार है। इसके लिए उन्होंने चेतना के ऊपर तीन प्रकार की अपचयन क्रियाओं का प्रयोग किया— मनोवैज्ञानिक, मूर्तिकल्पी तथा परात्पर।

इनके माध्यम से हम एक ऐसे सत्व तक पहुँचते हैं जो ज्ञाता-ज्ञेय से अतीत अतीन्द्रिय तत्व है। उनके दर्शन में आत्म-तत्व और जड़-तत्व का निलम्बन भी इसीलिए किया गया कि विशुद्ध आद्य-प्रदत्त तक पहुँचा जा सके। हुसर्रल स्वीकार करते हैं कि आभासकीय विधि, एक 'अनुभवातीत आत्मनिष्ठता' की ओर ले जाती है। हुसर्रल की यह तात्विक आत्मनिष्ठता सभी प्रकार की क्रियाओं का आधार है इसीलिए उन्होंने उसे अतीन्द्रिय आत्मनिष्ठता (ट्रान्सडेन्टल सबजेक्टिविटी) नाम दिया है। भारतीय दर्शन में शंकराचार्य अपने दर्शन को चैतन्य या आत्मा से प्रारम्भ करते हैं जो सभी प्रकार की चैतन्य क्रियाओं का आधार है। इसी प्रकार हुसर्रल ने भी अपने दर्शन का प्रारम्भ उपरोक्त अतीन्द्रिय आत्मनिष्ठता से किया है। इसे अतीन्द्रिय विज्ञानवाद भी कहते हैं।

अस्तित्ववाद और आत्मा

अस्तित्ववाद (इक्जिस्टेन्सलिज्म) कोई वैचारिक सम्प्रदाय न होकर एक दृष्टि है जो स्वतंत्र-चिन्तन से पैदा हुई है। वास्तव में अस्तित्ववाद, प्रकृतिवाद (नेचुरलिज्म), जड़वाद (मैटेरियलिज्म) तथा निरपेक्ष विज्ञानवाद (एब्सोल्यूट आइडियलिज्म) के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। इसकी मान्यता है कि हमारे पास एक शरीर है बल्कि हम स्वयं एक शरीर हैं। सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि एक आत्मा होती है जिसके साथ शरीर संलग्न होता है लेकिन अस्तित्ववाद यह मानता है कि हम स्वयं शरीर हैं। यह इसलिए है कि यहाँ मनुष्य चिन्तक न होकर एक कर्ता (एक्टर) के रूप में स्वीकार किया गया है। संक्षेप में अस्तित्ववाद, सत्व (एसेन्स) की अपेक्षा अस्तित्व (एक्जिस्टेन्स) का, अमानवीयकरण (डीह्यूमनाइजेशन) की प्रक्रिया के विरुद्ध, मानवीयता का एवं प्रेक्षक दृष्टि(स्पेक्टेटर्स व्यू) की अपेक्षा कर्ता की दृष्टि (एक्टर्स व्यू) का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार पूर्व स्थापित मानदण्ड, चाहे कोई भी हों मनुष्य की स्वतंत्रता में व्याघात पैदा करते हैं और मनुष्य की स्वतंत्रता की सार्थकता यह है कि वह अपने भविष्य का निर्माता स्वयं बने। कोई बाह्य अभिकर्ता ईश्वर आदि न हो। मनुष्य विरोधाभासों (पैराडाक्सेस) एवं अयुक्तियों (इरेशनाल्टीज़) से अपने को नियोजित पाता है। वह महसूस करता है कि उसे किसी असंगत स्थान पर फेंका गया है जहाँ, उसमें जुगुप्सा (नौसिया) की भावना पैदा होती है। वह अपने को एकाकी भी महसूस करता है, उसे तीव्र व्यथा (एंग्विश) का भी अनुभव होता है। अस्तित्ववाद का सिद्धान्त है कि 'मैं चिन्तन करता हूँ इसलिए मेरा अस्तित्व है।' यह इस कथन के विपरीत है कि 'मेरा अस्तित्व है इसलिए चिन्तन करता हूँ।'

अस्तित्ववाद की दो शाखाएँ प्रत्यक्ष हैं— ईश्वरवादी अस्तित्ववाद (थियेस्टिक एक्जिस्टेन्सलिज्म) और अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद (एथीयस्टिक एक्जिस्टेन्सलिज्म)।

सोरेन कीर्केगार्ड, ग्रैबियाल मार्सेल तथा कार्ल यास्पर्स ईश्वरवादी अस्तित्ववाद के समर्थक हैं। मार्टिन हाईडेगर तथा जीन पॉल सार्त्र का दार्शनिक चिन्तन अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद कहा जाता है। सोरेन कीर्केगार्ड (१८१३-१८५५)„ डेनमार्क के निवासी थे। उन्होंने अपने शोध प्रबन्ध 'द कन्सेप्ट आफ आयरनी' में हेगल के विचारों का खण्डन किया है। उनकी अन्य रचनाएँ 'आइदर आर' तथा 'फिलासोफिकल फ्रैग्मेन्ट्स' भी हेगल के विरुद्ध प्रतीत होती हैं।

जिस प्रकार भारतीय दर्शन में जीवात्मा और विशुद्धात्मा में भेद किया गया है उसी प्रकार कीर्केगार्ड ने वैचारिक आत्मा और अस्तित्ववान् आत्मा में भेद किया है। वैचारिक आत्मा को सत्य की अनुभूति इसलिए नहीं होती क्योंकि यह प्रत्ययों एवं अवधारणाओं के माध्यम से सत्य की खोज करने की चेष्टा करती है। विचारों के माध्यम से सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। यदि वैचारिक आत्मा, सत्य का कोई चित्र प्रस्तुत करती भी है तो वह वास्तविक सत्य न होकर वैचारिक सत्य ही होगा। वास्तविक सत्य की अवधारणा नहीं की जा सकती, इसे आत्मसात् करना होता है अर्थात् इसे जीवन में चरितार्थ करना होता है। कीर्केगार्ड का कहना है सत्य को तब तक जाना नहीं जा सकता जब तक वह जीवन में चरितार्थ न हो जाय। कीर्केगार्ड की, सत्य की इस व्याख्या को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि सत्य, एक प्रकार की आन्तरिक अनुभूति है वह कहीं बाहर से हमारी चेतना पर आरोपित नहीं होता। आन्तरिकता के माध्यम से ही सत्य को जाना जा सकता है। वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया द्वारा ईश्वर का केवल सम्भाव्य ज्ञान ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार अनिश्चियता के कारण, मन में एक प्रकार की आन्तरिक व्याकुलता उत्पन्न होती है। यह भावात्मक सशक्त आस्था ही ईश्वर-सत्य है। इस प्रकार, सत्य, आन्तरिकता में ईश्वर का साक्षात्कार है।

मार्टिन हाइडेगर (१८८९-१९७६) जर्मनी के थे और हुसर्रल के संवृत्तिशास्त्र या आभासिकों से प्रभावित थे। वे अस्तित्ववान् मानव (दा सीन) को ही सत् की प्राप्ति का साधन मानते हैं। तात्विक सत्य की अनुभूति का मार्ग मानव स्वयं है। मानव, अस्तित्व की ऐसी सम्भावनाएँ जिसमें वह सत् की ओर, चेतन और जागरूक हो सकता है, को समझना ही सत् का वास्तविक अवबोध है। हाइडेगर के अनुसार, आभासकीय मानव विज्ञान के माध्यम से ही, प्राथमिक सत्ता की मीमांसा तक पहुँचा

जा सकता है । मानव ही ऐसा प्राणी है जिसके भीतर सत् विषय की जिज्ञासा हो सकती है । शंकराचार्य के ब्रह्म सूत्र भाष्य के प्रथम सूत्र में 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा', उसी व्यक्ति के भीतर जागृत हो सकती है जो न पूर्ण ज्ञानी है और न ही पूर्ण अज्ञानी । ऐसी विशेषता मनुष्य के अन्दर ही पाई जाती है । सत् और असत् के प्रश्न मनुष्य की बुद्धि को ही उद्वेलित करते है ।

संकट की घड़ी में हमारी आत्मा हमें सन्नद्ध कर देती है । यही अन्तःकरण की पुकार (काल आफ कान्सस) है । प्रामाणिक जीवन का अंश जागरूक है, वह पुकारता है और अप्रामाणिक जीवन का अंश, जो पतन की अवस्था में है, इसे सुनता है, कृत्रिम जीवन से स्वाभाविक जीवन की ओर आने के लिए प्रयत्नशील होता है ।

जीन पॉल सार्त्र (१९०५-१९८०) का जन्म पेरिस में हुआ था । वे विश्व के गिने-चुने साहित्यकारों में थे । उनके विचारों में तथा उनके लेखन में अस्तित्ववाद इस प्रकार छाया रहा कि अक्सर 'सार्त्र' और 'अस्तित्ववाद' दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्याय बन गए। दर्शन शास्त्र पर 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' तथा 'एक्जिस्टेंशनलिज्म एण्ड ह्यूमनिज्म' नामक पुस्तकें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । सार्त्र का कहना है कि अस्तित्व, सत्व का पुरोगामी है (एक्जिस्टेंस प्रेसीड्स एसेन्स) । सामान्यतया ऐसा समझा जाता है कि चाहे ईश्वर ही क्यों न हो किसी कृति के निर्माण के पूर्व उसके मन में, उसका कोई प्रारूप, उसकी कोई प्रविधि और उसका कोई अभिप्राय अवश्य रहता है । अर्थात् सत्व के बाद ही कृति का प्रादुर्भाव होता है । ईश्वर को किसी ने देखा नहीं है किन्तु मनुष्य की सत्ता का निषेध नहीं हो सकता । मनुष्य के प्रत्यय के पहले मनुष्य का अस्तित्व होना चाहिए । जब मनुष्य का अस्तित्व ही न होगा तो मनुष्य के प्रत्यय का निर्माण कैसे सम्भव होगा ? अतः, यहाँ अस्तित्व, सत्व का पुरोगामी है । यही अस्तित्ववाद का प्रस्थान-बिन्दु है । प्रारम्भ में मनुष्य, परिभाष्य नहीं होता क्योंकि उस समय उसके पास, अपना भी प्रत्यय नहीं होता । सार्त्र की दृष्टि से मानव प्रकृति नाम की कोई वस्तु नहीं है । मनुष्य केवल है (मैन सिम्पली इज़) ।

मनुष्य जो कुछ निर्माण करता है उससे अलग वह कुछ भी नहीं है । मनुष्य अस्तित्ववान् तभी होगा जब वह अपने लक्ष्य को अपने जीवन में चरितार्थ करे । मानव अस्तित्व की अनुभूति का तात्पर्य है— मनुष्य की मौलिक स्वतंत्रता । मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति से आत्म-निर्माण करता है और वह जो कुछ बनता है, वह उसके स्वतंत्र-निर्णय का परिणाम है । सार्त्र के अस्तित्ववादी चिन्तन में सत्ता (एक्जिस्टेन्स) के तीन आयाम है— अचेतन सत्ता, चेतन सत्ता तथा अन्य चेतन

सत्ताएँ। इन्हीं तीन सत्ताओं से हमारा संसार निर्मित होता है और इन्हीं सत्ताओं की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा मानव-अस्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। अस्तित्ववान् होने का अर्थ चिन्ता, परिताप, निरवलम्बता तथा हताशा आदि से ग्रस्त होना भी है। अधिकांश मनुष्य संसार की कठिनाईयों से बचने के लिए, अपने को वस्तु के रूप में परिणत कर देते हैं। सार्त्र ने इस आत्म-प्रवंचना (बैड फेथ) को धोखा या झूठ से पृथक् माना है। इससे थोड़े समय के लिए, चिन्ता, भय तथा निराशा आदि से मुक्ति मिल जाती है लेकिन इससे मूलभूत समस्याओं का समाधान नहीं होता। वे समस्याएँ और बड़ी होकर हमारे सामने उपस्थिति हो जाती है। इस प्रवञ्चनात्मक विश्वास का एक तात्त्विक आधार भी है जो चेतना के निषेध के रूप में प्रगट होता है।

जर्मनी के ही कार्ल जास्पर्स (१८८३-१९६९) के विचारों का प्रमुख केन्द्र 'आधुनिक मानव' है जो आधुनिक परिवेश और सभ्यता से आवृत मनुष्य की चेतना से अभिभूत है। चिन्ता का विषय यह है कि आधुनिक परिवेश, मानव की विशिष्टता और मानवीयता को समाप्त कर सकता है। जास्पर्स यह मानते है कि दार्शनिक चिन्तन समकालीन ही हो सकता है उसमें विज्ञान की भाँति विकास का क्रम नहीं होता। वे कई प्रकार के अस्तित्व या सत् को स्वीकार करते हैं। जैसे, 'तत्रसत्' (बीइंग देअर) से जास्पर्स का तात्पर्य उस जगत से है जिसमें मनुष्य अपने को विद्यमान पाता है। 'आत्मसत्' (बीइंग फार वनसेल्फ) अर्थात् 'तत्र सत्' की अनुभूति में 'आत्म-सत्' की अनुभूति एवं 'आत्म-सत्' अनुभूति में 'तत्र सत्' की अनुभूति शामिल होती है। 'स्वयं सत्' (बीइंग इन इट सेल्फ) का तात्पर्य है कि मनुष्य स्वतंत्र तो है परन्तु उसकी स्वतंत्रता अपरिमित नहीं है। उसकी भी सीमाएँ हैं। इस प्रकार इन तीनों सत् से पृथक् कोई सत्ता नहीं है और ये तीनों ही अन्तर्यामी (इमानेन्ट) तथा पर (ट्रान्सेन्डेन्ट) दोनों है। स्वयं सत्, एक व्यापक तत्व है जिसके परे हम किसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते। इसी कारण इस स्वयं सत् की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। स्वयं सत् का ज्ञान जिस दार्शनिक आस्था के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है उसे जास्पर्स ने पराक्रमता (ट्रान्सेन्डेन्स) नाम दिया है। यह प्रक्रिया ही स्वयं सत् में विश्वास का आधार है। अतः, यह 'स्वयं सत्' ईश्वरीय अस्तित्व है।

जास्पर्स के अनुसार आस्था में ही परात्मकता का आग्रह होता है। जब तक हम चरम स्थितियों से असन्तुष्ट और व्याकुल नहीं होते तक तक हम परम तत्व (इन्कम्पैसिंग) को प्राप्त करने के लिए सचेष्ट नहीं होगें। जास्पर्स दो प्रकार की व्याप्तता में विश्वास करते हैं— प्रथम वह व्याप्तता जो पिण्ड या आत्मा में है (दि इन्कम्पैसिंग बी आर) और वह व्याप्तता जो ब्रह्माण्ड में है (दी इन्कम्पैसिंग

दैट इज बीइंग इट सेल्फ)। आत्मा की व्याप्तता, इस अनुभूति पर आधारित है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हमारी अनुभूति का विषय बन सकता है। भारतीय दर्शन में आत्मा का शाब्दिक अर्थ ही व्यापकता है। इस आत्मा की व्यापकता की तीन विधाएँ (मोड्स) हैं— प्रथम वैयक्तिक चेतना (इन्डिवीजुअल कान्ससनेस) जिसके द्वारा हम सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता रखते है। द्वितीय, विशुद्ध चेतना (कान्ससनेस ऐज सच), केवल व्यक्ति तक सीमित न रहकर, सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होने की चेतना है और तृतीय आध्यात्मिक चेतना (स्प्रिचुअल कान्ससनेस) ही सभी प्रकार की सृजनात्मकता का स्रोत है। कला, साहित्य दर्शन, उच्च्व आदर्श तथा सामाजिक उत्थान आदि में आध्यात्मिक चेतना की व्यापकता देखी जा सकती है।

ग्रैब्रियल मार्सेल (१८८९-१९७३) पेरिस के निवासी थे। वे न केवल दार्शनिक वरन् एक सफल नाटककार तथा आलोचक भी थे। मार्सेल की रचनाएँ फ्रेन्च भाषा में हैं जिनमें अधिकांश का अनुवाद, अंग्रेजी भाषा में हो चुका है। मार्सेल भी 'आधुनिक मानव' पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखते हैं। मार्सेल का विचार है कि अस्तित्व का अपना अस्तित्व है जिसे गहराई में डूबकर ही अनुभव किया जा सकता है। वैज्ञानिक चिन्तन में द्रष्टा एवं दृश्य के बीच द्वैत होता है परन्तु दार्शनिक चिन्तन में द्रष्टा और दृश्य के बीच एकीकरण हो जाता है।

मार्सेल के अनुसार हमारी आत्मा एवम् भौतिक जगत के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध होता है तथा आत्मा तथा अन्य चेतन सत्ताओं के साथ दूसरे प्रकार का सम्बन्ध होता है। आत्मा और जगत के बीच का सम्बन्ध विषयी-विषय का सम्बन्ध है। अत: उनके बीच समस्यामूलक सम्बन्ध ही हो सकता है। यह सम्बन्ध भी ऐसा है कि आत्मा का भौतिक जगत से सम्बन्ध साक्षात् सम्बन्ध न होकर परोक्ष सम्बन्ध ही है। मार्सेल शरीर और भौतिक वस्तुओं को एक ही कोटि में नहीं मानते। आत्मा एवं भौतिक वस्तुओं के बीच पूर्ण बाह्य सम्बन्ध है किन्तु शरीर के साथ वैसा बाह्य सम्बन्ध नहीं है। हमारी आत्मा का किसी भौतिक वस्तु के साथ नहीं वरन् एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। भौतिक वस्तुओं के साथ अहम् और इदम् के बीच का सम्बन्ध है और आत्मा और आत्मा के साथ अहम् तथा त्वम् का। इस दूसरे प्रकार के सम्बन्ध का निरूपण नहीं होता, अनुभूति होती है।

मार्सेल के अनुसार ईश्वर को बुद्धि या तर्क के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न, उसकी वस्तुनिष्ठ सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न होगा जो उसे विज्ञान का विषय बना देगा जबकि ईश्वर दर्शन शास्त्र का विषय है। ईश्वर की केवल

रहस्यात्मक अनुभूति की जा सकती है जिसमें बाहर से कुछ प्राप्त न करके हम अपनी आन्तरिकता को विकसित करते हैं।

आधुनिक विज्ञान और आत्म-तत्त्व

आधुनिक विज्ञान की कई उपलब्धियाँ आश्चर्यजनक हैं। इनसे प्रकृति और मानव-जीवन के अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। शताब्दियों से, जन-मानस को नियंत्रित करने वाली मान्यताएँ इन वैज्ञानिक आविष्कारों से, भ्रामक तथा असत्य प्रतीत हुई हैं। इतना होते हुए भी, प्रकृति और जीवन से सम्बन्धित अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो अनुत्तरित रह गए हैं। अनेक ऐसी समस्याएँ है जिनका समाधान प्राप्त नहीं हुआ है। वास्तव में, विज्ञान की प्रगति भौतिक जगत तक ही है और उसमें भी, उसकी अपनी सीमाएँ हैं। उसका साधन इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान है। इससे परे, जो दार्शनिकों की दृष्टि में इन्द्रियातीत, अपरोक्ष अनुभवजन्य ज्ञान है उसके विषय में विज्ञान मौन है। बल्कि, भौतिक प्रमाणों के अभाव में, उसे वास्तविक मानने में भी असमर्थ है। ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक, देवी-देवता, प्रेतात्माएँ तथा स्वप्न जगत आदि से सम्बन्धित अधिकांश बातें विज्ञान की दृष्टि में कल्पना मात्र हैं। जहाँ तक आत्मा की स्थिति का प्रश्न है— यह प्रश्न वैज्ञानिक न होकर दार्शनिक है और दर्शन हमेशा मानसिक जगत की समस्याओं से उलझता रहा है।

यह सर्वविदित है कि आदिम जीवन में, जीव-द्रव्य की कल्पना की परिणति आत्म-द्रव्य के रूप में हुई जिसमें जीव-तत्व के साथ-साथ मनस्-तत्व भी सम्मिलित है। अब, विज्ञान ने जीव-द्रव्य के विश्लेषण द्वारा ऐसे तथ्यों का उद्घाटन किया है जिनसे मानव-सृष्टि की अधिकांश रहस्यमयता समाप्त हो गई है। यहाँ, जीव के निर्माण की सबसे छोटी इकाई कोशिका के केन्द्रक में स्थित क्रोमोसोम, डी० एन० ए० तथा जीव-द्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) आदि के क्षेत्र में नये अन्वेषणों एवं जीन क्लोनिंग के समान भ्रूण क्लोनिंग आदि की चर्चा करना, विज्ञान के क्षेत्र में अनाधिकार प्रवेश होगा किन्तु, विज्ञान की उपलब्धियों के बीच भी परमात्मा तथा आत्मा का सन्निवेश काल्पनिक होते हुए भी आवश्यक है क्योंकि मानस जगत की शक्तियों का विस्तार, दृश्य जगत से लेकर अदृश्य जगत तक है जिसमें आत्मा और परमात्मा का अभी तक कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं किया जा सका।

●

गौतम बुद्ध तथा धर्म और दर्शन की क्रान्तदर्शी प्रवृत्तियाँ

परिवर्तन का ऐतिहासिक काल-खण्ड

ईसा पूर्व छठी शताब्दी तथा उसके आस-पास का समय, भारतीय इतिहास का ऐसा काल-खण्ड है जिसमें राजनीति, धर्म, दर्शन तथा समाज के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए और चिन्तन की नई दिशाओं का अनावरण हुआ। इस समय, राजनीति में, सीमित राजतंत्र की वैदिक तथा गण राज्यों की वेदोत्तरकालीन परम्पराओं को, छिन्न-भिन्न कर, बृहत् साम्राज्य या शक्तिशाली राजतंत्र का उदय हुआ। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में, वैदिक ऋचाओं में निहित प्रकृति के अनेक रूप तथा उनसे अनुप्राणित ब्रह्मवाद एवं बहुदेववाद के साथ, कालान्तर में विकसित, संश्लिष्ट हिन्दू धर्म को, ऐसे प्रतिरोधों का सामना करना पड़ा कि कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होने लगा कि हिन्दू धर्म का अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार, समाज के क्षेत्र में पुरानी वर्ण-व्यवस्था को तत्कालीन क्रान्तद्रष्टा धर्मोपदेशकों ने अपनी स्वीकृति नहीं दी। फलतः, वर्णरहित समाज की सम्भावनाएँ प्रत्यक्ष होने लगी थीं।

धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में जिन धर्मों ने तत्कालीन जन-समाज को बृहत्तर रूप मे प्रभावित किया वे निम्न हैं—

— दास पुत्र मक्खलि गोशाल तथा उनके अनुयायिओं द्वारा विकसित 'आजीविक धर्म'। इसे 'आजीवक' तथा पाणिनि के अनुसार 'दैष्टिक धर्म' भी कहा गया है।

— प्रागैतिहासिक ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर पार्श्वनाथ आदि अनेक तीर्थंकरों द्वारा विकसित, जैन धर्म का वर्धमान महावीर द्वारा नव्यतम संस्कार।

— तथागत गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म।

बुद्ध पूर्णिमा तथा बुद्धत्व की प्राप्ति

बुद्ध पूर्णिमा को राजकुमार सिद्धार्थ को बुद्धत्व की प्राप्ति हुई। गया में, निरन्तर सात दिनों तक अश्वत्थ (पीपल) के नीचे समाधिस्थ रहने के बाद, आठवें दिन बैसाख की पूर्णिमा को उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। इसे 'संबोधि' कहते हैं। इसीलिए गया को 'बोधिगया' तथा अश्वत्थ वृक्ष को 'बोधिवृक्ष' कहा जाता है। इस बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व उनके जीवन एवं तपश्चर्या की प्रारम्भिक कड़ियाँ लुम्बिनी, कपिलवस्तु एवं उरुबेला से जुड़ी हुई हैं।

कौशल राज्य के अधीनस्थ कपिलवस्तु राज्य के निर्वाचित शाक्यगण मुख्य, शुद्धोदन की पत्नी महामाया का मातृकुल का नगर देवदह था। प्रसव के पूर्व वहाँ जाते समय, लुम्बिनी के शाल वन में उन्हें प्रसव पीड़ा हुई और वहीं एक शालवृक्ष के नीचे शिशु सिद्धार्थ का जन्म हुआ। अशोक का प्रस्तर-स्तम्भ अब भी वहाँ है जिस पर 'हिद बुधे जाते साक्य मुनीत' अर्थात् यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ—अंकित है। मज्झिमनिकाय के अनुसार जन्म के एक सप्ताह बाद ही उनकी माता का देहान्त हो गया और उनका लालन-पालन उनकी मौसी गौतमी, जो शुद्धोदन की दूसरी पत्नी बनी—के द्वारा हुआ। डॉ० उमेश मिश्र के अनुसार जन्म की तिथि ५६३ ई० पू० की वैसाखी-पूर्णिमा है।

महानिष्क्रमण

अनेक शास्त्रों के अध्ययन एवं शस्त्रों में निपुणता प्राप्त कर लेने के बाद, 'प्रव्रज्या ग्रहण करने के भय से' उनका विवाह, केवल सोलह वर्ष की अल्पायु में, शाक्य वंश की ही राजकुमारी यशोधरा से कर दिया गया। उनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम राहुल रखा गया। 'ललित विस्तर' के अनुसार देवदूतों द्वारा क्रमश: व्याधिग्रस्त व्यक्ति, जर्जर शरीर वाला वृद्ध, शव लेकर जाते हुए लोग तथा काषायवस्त्रधारी साधु को देखकर, उनका महानिष्क्रमण हुआ। उनतीस वर्ष की अवस्था में, उन्होंने रात्रि में, अपने परिवार का त्याग किया। कपिलवस्तु से दूर आने पर, उन्होंने अपने केश काटे और काषय वस्त्र धारण किया। इसके उपरान्त उन्होंने अनेक स्थानों में भ्रमण किया, अनेक सन्यासियों से, अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया किन्तु न तो उन्हें मानव की समस्याओं का कोई उत्तर प्राप्त हुआ और न उन्हें संतुष्टि हुई। मगध जनपद के 'उरुबेला' में निरंजना नदी के तट पर, लगभग छ' वर्षों तक कठिन तपश्चर्या की। शारीरिक यंत्रणा के इस दौर में वे अत्यन्त जीर्ण एवं अशक्त हो गए। अन्न त्याग के साथ श्वास क्रिया को भी अवरोधित किया और मृत्यु के निकट पहुँच गए। इतना सब कुछ होने पर भी, उन्हें ज्ञान की प्राप्ति में सफलता नहीं मिली।

संबोधि तथा धर्म-चक्र प्रवर्तन

उन्होंने तपश्चर्या से विराम लिया। उरुबेला में ही सुजाता द्वारा प्रस्तुत भोजन को स्वीकार किया। उनके साथ के अन्य तपस्वी उन्हें पथ-भ्रष्ट समझकर, उनका साथ छोड़कर चले गए। सिद्धार्थ ऋषिपत्तन होते हुए गया पहुँचे और यहीं, जैसा कि कहा जा चुका है, 'संबोधि' की प्राप्ति हई। बोधि गया में बर्मा, चीन, जापान, तिब्बत तथा थाईलैण्ड की विशिष्ट शैलियों वाले बौद्ध मंदिर हैं। महाबोधि मंदिर में बुद्ध की स्वर्णमंडित प्रतिमा है. जो बौद्धों के आकर्षण का केन्द्र है।

'संबोधि' के बाद उन्होंने निरंजना नदी में स्नान किया। सर्वप्रथम उन्होंने शूद्रवर्गीय तपस्सु तथा भल्लि को उपदेश देकर दीक्षित किया। इन अनुयायियों के साथ काशी के ऋषि पत्तन (सारनाथ) में उन्होंने, उन पाँच तपस्वियों को भी दीक्षा दी जो उनका साथ छोड़कर चले गए थे। बौद्ध साहित्य में इस प्रसंङ्ग को 'धर्म चक्र-प्रवर्तन' नाम से स्मरण किया जाता है। 'संयुक्त निकाय' में 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' अर्थात् तथागत बुद्ध के प्रथम उपदेश का तात्पर्य इस प्रकार है—

मनुष्य को शारीरिक कष्ट तथा काम-सुख दोनों से बचकर, मज्झिम निकाय अर्थात् मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए तथा सत्य चतुष्टय अर्थात् दुःख का सत्य (जन्म, रोग, मृत्यु, शोक, रुदन, चिन्ता तथा निराशा), दुःख समुदाय का सत्य (जन्म तथा सुख-भोग की आकांक्षा जिससे पुनर्जन्म होता है), दुःख से निवृत्ति (त्याग की उत्पत्ति तथा तृष्णा का अन्त) तथा मज्झिम पदिपदा (अर्थात् मध्यम मार्ग जिससे दुःख की निवृत्ति होती है) का ज्ञान आवश्यक है। मज्झिम पदिपदा के अन्तर्गत आर्य अष्टांगिक मार्ग हैं—सम्यक् दष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् ध्यान और सम्यक् समाधि।

उनका भ्रमण जारी रहा। सामान्य जनता के अतिरिक्त अनेक राजा-सम्राट भी उनके धर्म मे दीक्षित हुए। वे अपने पिता के राज्य कपिलवस्तु पहुँचे। उन्होंने अपनी मौसी गौतमी, पत्नी यशोधरा, पुत्र राहुल तथा नव विवाहिता पत्नी सुन्दरी के प्रेम में आसक्त अपने चचेरे भाई नन्द को दीक्षित किया। नन्द के संदर्भ में यह कहा जाता है कि बलात् उसका शिर मुण्डित कर उसे दीक्षित किया गया। उसकी पत्नी प्रतीक्षारत रही। वह फिर लौटकर नहीं जाने पाया। अश्वघोष ने इस प्रसङ्ग को अपने 'सौन्दरनन्द' काव्य का विषय बनाया है। मोहन राकेश ने इसी प्रसङ्ग को लेकर 'लहरों के राजहंस' नामक नाटक की रचना की है।

वैशाली की गणिका आम्रपाली तथा श्रावस्ती के दुर्दान्त दस्यु अंगुलिमाल को दीक्षित कर, उन्होंने अपने व्यक्तित्व के दिव्य प्रभावलय का परिचय दिया। भिक्षु संघ, भिक्षुणी संघ, तथा संघाराम की स्थापना तथा अनेकशः व्यक्तियों के

दीक्षित होने के साथ, उन्हें विरोध का भी सामना करना पड़ा। उनके चचेरे भाई देवदत्त का विरोध इतना प्रबल था कि बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर भी, उसने भगवान बुद्ध की हत्या के लिए तीन बार प्रयास किया किन्तु हर बार असफल रहा। दरअसल, वह बुद्ध का स्थान लेना चाहता था।

जाति रहित बौद्ध संघ

बुद्ध के प्रधान शिष्यों में सारिपुत्र (ब्राह्मण), आनन्द (बुद्ध के चचेरे भाई), मौद्गल्यायन (प्रसिद्ध चिन्तक तथा विद्वान), उपालि (नापित), सुनीति (भंगी), बिंबिसार (मगध के शासक), अजातशत्रु (बिम्बिसार के पुत्र), जीवक (प्रसिद्ध वैद्य), तथा प्रसेनजित (कोसल के राजा) आदि का नाम आता है। शिष्याओं में गौतमी (मौसी), यशोधरा (पत्नी), नन्दा (गौतमी की पुत्री), खेमा (विबिंसार की पत्नी), आम्रपाली (वैशाली की गणिका) तथा विशाखा (अंग जनपद की श्रेष्ठि-पुत्री) के नाम प्रसिद्ध हैं।

महाप्रयाण

बुद्ध का देहावसान अस्सी वर्ष की अवस्था में हुआ (असीतिको मे वयो वत्तति-महानिब्बाण सुत्त)। जब वे वैशाली में थे तभी वेलु ग्राम में अस्वस्थ हो गए। आनन्द से कहा—आज से तीन महीने बाद मेरा अन्त होगा। अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए भोगनगर पहुँचे और वहाँ से पावा। पावा के चुन्द कम्मरि पुत्र के आम्रवन में ठहरे। उसके आतिथ्य में 'सूकर मद्दव' भी ग्रहण किया। स्थिति गम्भीर हो गई। 'सूकर मद्दव' संभवत: सुअर का मांस है। भिक्षा में मिले मांस का निषेध उन्होंने नहीं किया था। चुन्द को लोग दोषी न कहें इसलिए वहाँ से कुशीनारा पहुँचे। वहाँ मल्लों के शालवन में भिक्षुकों को अन्तिम उपदेश देकर प्राण त्याग किया। यह तिथि ४८३ ई० पू० की वैशाख की पूर्णिमा थी। उनका भस्मावशेष, मगध सम्राट अजातशत्रु के अतिरिक्त लिच्छिवि, शाक्य, वुलिगण मल्ल तथा कोलियों आदि को प्राप्त हुए जिन पर स्तूप निर्मित हुए।

बुद्ध की मूर्तियों के सम्बन्ध में

तथागत के निर्वाण के बाद लगभग छ: सौ वर्षों तक उनकी मूर्तियाँ नहीं बनी। उन्हें संकेतों अथवा प्रतीक-चिन्हों से स्मरण किया जाता रहा—जैसे, कमल, बोधिवृक्ष, वज्रासन, भिक्षा-पात्र, स्तूप, धर्मचक्र, त्रिरल, प्रभामंडल, हाथी तथा पद-चिन्ह। बाद में मूर्तियाँ बनाने की प्रथा चल पड़ी। तब तक बुद्ध के मुख मंडल की कोई स्मृति शेष नहीं थी। तथागत की मृत्यु के सौ वर्ष बाद उपगुप्त हुआ जिसने उनके मुख मंडल का शाब्दिक चित्र खींचा। सामान्यतया जो मूर्तियाँ गंधार

में बनी उन पर ग्रीक-रोमन शैली का प्रभाव तथा अपोलो की मुखाकृति का अनुकरण देखा जा सकता है। शेष मथुरा तथा अन्य स्थानों की मुखाकृतियों में यक्ष की मुखाकृति का साम्य दिखाई पड़ेगा।

क्रान्तदर्शी धर्मों की भूमिका

बुद्ध के समकालीन, आजीवक धर्म के प्रवर्तक मक्खलि गोशाल, वर्धमान महावीर के मित्र तथा नालन्दा में छः वर्ष तक उनके सहपाठी थे। उनके पिता गोशाले में नियुक्त थे और वहीं उनका जन्म हुआ। तथागत गौतम बुद्ध की मृत्यु के एक वर्ष बाद संभवतः ४८४ ई० पू० में उनकी मृत्यु हुई। मक्खलि गोशाल निम्न जाति के थे और उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण किया था। उनके सिद्धान्तों का प्रचार पश्चिम सौराष्ट्र से लेकर अंग देश तक था। अशोक तथा मौर्य सम्राट दशरथ आदि ने आजीवकों के लिए गुफाओं का निर्माण कराया था। कालान्तर में जिस प्रकार बौद्ध धर्म भारत से तिरोहित हो गया उसी प्रकार आजीवक धर्म भी दक्षिण के कुछ स्थानों तक ही सिमट कर रह गया।

महावीर से गोशाल का हमेशा विरोध रहा। महावीर ने अपने अनुयायियों को आजीविकों से दूर रहने की शिक्षा दी थी। आजीवक भी नग्न रहा करते थे। उनका प्रमुख केन्द्र श्रावस्ती था।

तीनों धर्मों की विभाजक रेखाएँ

महावीर तथा गौतम बुद्ध राज घरानों से सम्बन्धित थे और गोशाल शूद्र थे। निश्चय है कि प्रथम दोनों को, अपने धार्मिक अभियान में समाज के सभी वर्गों का सहयोग मिला होगा लेकिन गोशाल अधिकांशतः अपने वर्ग तक ही सीमित रह गए होंगे। तीनों धर्मों में समानता यह थी कि ये सभी हिन्दू धर्म के देववाद, कर्मकाण्ड, हिंसात्मक यज्ञ, वर्ण और जाति-व्यवस्था के विरोधी थे। तीनों धर्मों का दर्शन अनीश्वरवादी था।

जैन और बौद्ध धर्म, कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। सत् और असत् कर्म से ही बंधन-मुक्ति संभव है। सांसारिकता की प्रतीति और सुख-समृद्धि को दोनों धर्मों ने त्याज्य कहा है। गोशाल की विशेषता यह है कि वे सिद्धान्ततः, कर्म तथा कर्म फल दोनों का विरोध करते हैं। वे नियति में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि सारे जीव, नियति अथवा भाग्यवाद से बंधे हैं। व्यक्ति तो शक्तिहीन है, वह अकर्मण्य है। भाग्य और संयोग से ही उसका जन्म होता है और संयोग से ही वह सुख-दुःख का भोग करता है। गोशाल को अहेतुवादी भी कहा गया है। इन सबके अतिरिक्त मन और शरीर की शुद्धि तथा सदाचार आदि के नियम तीनों धर्मों में समान हैं।

वस्तुतः, इन धर्मों ने तत्कालीन सोच में क्रान्ति का आह्वान किया जिसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म की प्राचीन मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न होने लगी थीं। बौद्ध और आजीवक धर्म कालान्तर में, हिन्दू धर्म की बढ़ती हुई विभाजक-प्रवृत्तियों से परास्त होकर रह गया। बौद्ध धर्म को पूर्वी एशियाई देशों में सफलता मिली किन्तु आजीवक धर्म को बिखरकर अस्तप्राय हो जाना पड़ा। केवल जैन धर्म, अन्य धर्मों के समकक्ष रहकर भारत में अब भी सुदृढ़ बना हुआ है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी के वैचारिक आन्दोलन के ये भग्नावशेष, आज भी प्राचीन काल से चली आती विघटनशील परम्पराओं को तोड़ देने के लिए प्रेरित करते हैं।

●

प्रयाग की सरस्वती–वैदिक सरस्वती का मिथकीय स्थानान्तरण

प्रयाग, गंगा और यमुना नाम की दो नदियों का संगम-स्थल है । दोनों नदियों की जल धाराएँ सितासित (श्वेत-श्याम) हैं । इस 'सितासित' संगम का उल्लेख ऋग्वेद के एक मंत्र में भी है । वाल्मीकीय रामायण से लेकर इतर काव्य-ग्रन्थों में, प्रयाग तथा गंगा-यमुना के इस संगम का विस्तार से वर्णन मिलता है । तीर्थराज के रूप में प्रयाग की प्रतिष्ठा तथा उससे संबंधित कथाओं-उपकथाओं का सृजन पुराणों का विषय है । प्रयाग के महात्म्य में 'अक्षयवट' आदि का उल्लेख है । कालान्तर में यहाँ सरस्वती नदी को, उसकी वैदिक भूमि 'सप्त सिन्धवः' से स्थानान्तरित कर लिया गया । ऐसा कहा जाता है कि यह सरस्वती नदी अदृश्य रूप से, गंगा-यमुना के इस पावन समागम में सम्मिलित है । सरस्वती की जल धारा को लाल या रक्तिम कहा गया है । यह, मिथकीय कल्पना मात्र है । इस कल्पना को सत्याभास देने या सत्यवत् सिद्ध करने के लिए आस्तिकों-श्रद्धालुओं की अपनी व्याख्याएँ हैं । योग की क्रियाओं तथा आध्यात्मिक संदर्भों से भी सरस्वती के अस्तित्व की पुष्टि की जाती है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि 'तीर्थ' से अपरिचित हैं । 'प्रयाग' भी इनके शब्द-कोश में नहीं है । गंगा से भी वह बहुत परिचित नहीं हैं । हाँ, यमुना से उनका विशेष परिचय है । वे, सरस्वती—उसकी सात बहनें (सप्त स्वरीय), 'आप्री' और 'आप्र' सूक्तों के आठवें और नवें मंत्रों (ऋग्वेद) में, अनेकों बार 'इडा' और 'भारती' से उसकी सम्बद्धता—को, तथा इसके तट पर किए गए यज्ञादि को भुला नहीं पाते ।वैदिक काल में यह नदी परम पवित्र मानी जाती थी । इसका अपना प्रभुत्व था । यमुना और शुतुद्री (सतलज) के बीच में प्रवाहित होकर यह समुद्र तक जाती थी । कालान्तर में यह मरु भूमि में जाकर लुप्त हो गई । ब्राह्मण-ग्रन्थों (ताण्डय, पंचविंश तथा जैमिनीय) एवं श्रौत सूत्रों (कात्यायन, आश्वलायन तथा शांखायन आदि) में सरस्वती के लुप्त होने वाले स्थान को 'विनशन' तथा उसके

पुन: प्रगट होने के स्थान को 'प्लक्ष प्रास्रवण' कहा गया है। दोनों स्थान एक दूसरे के ४५ दिनों (पैदल या घोड़े की गति) की दूरी पर हैं। आजकल यह सरस्वती नदी पटियाला राज्य में 'सर्सूति' नाम की छोटी नदी है (वैदिक इन्डेक्स)।

वैदिक साहित्य के बाद रामायण तथा महाभारत का, इतिहास-काव्य के रूप में भी महत्वपूर्ण स्थान है। आजकल, इनके संस्करणों में पुराणों के 'प्रक्षेप' मिलते हैं। वाल्मीकीय रामायण में बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में ये प्रक्षेप सर्वाधिक हैं। बाल काण्ड में, विश्वामित्र के साथ, जब राम और लक्ष्मण विश्वामित्र के आश्रम से, शोण नदी को पारकर, गंगा-तट पर पहुँचते हैं तब विश्वामित्र द्वारा गंगा की उत्पत्ति संबंधी दो आख्यान कहे जाते हैं। जिनमें पहले आख्यान के अनुसार गंगा, पार्वती की बड़ी बहन हैं और देवताओं की प्रार्थना पर उन्होंने शिव के तेज को धारण कर, कार्तिकेय को जन्म दिया। दूसरा प्रसिद्ध 'गंगावतरण' का प्रसङ्ग है। अयोध्या कांड के संदर्भ, 'प्रयाग' की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। वन-गमन के प्रसङ्ग में राम, सीता और लक्ष्मण, अयोध्या से चलकर, तमसा, गोमती और स्यन्दिका नदियों को क्रमश: पार कर श्रृंगवेरपुर में पहुँचते हैं। यह निषादों का राज्य है। निषाद राज 'गुह' के आतिथ्य सत्कार को ग्रहण कर, गंगा को पार करते हैं। गंगा को पार करते ही वे 'वत्स' राज में प्रवेश करते हैं। फिर बहुत घने जंगल को पार कर, सूर्यास्त के समय भरद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचते हैं। लगता है उस समय प्रयाग का कोई महत्व नहीं था। प्रयाग का उल्लेख भी केवल दो-तीन बार (५४.५-३४) हुआ है। यहाँ संगम के पास हरित-श्याम न्यग्रोध (वट वृक्ष) का भी उल्लेख है जिसे सीता जी प्रणाम करती हैं (५५.६-२४)। यह 'न्यग्रोध' ही बाद में 'अक्षयवट' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। 'तीर्थ' का उल्लेख यमुना के अवतरण-प्रदेश (घाट) के रूप में, ('अथासाद्य तु कालिन्दी प्रतिस्रोत: समागमम्। तस्यातीर्थं प्रचरितं प्रकामं प्रेक्ष्य राघव:—' अयोध्याकाण्ड-५५.५) है। इस तीर्थ से प्रचलित तीर्थ का कोई आशय प्रगट नहीं होता। अत: वाल्मीकीय रामायण (रचना काल-८०० से ६०० ई० पू०) में न आज का प्रयाग है और न अक्षयवट। सरस्वती का तो कोई नाम-निशान भी नहीं है। प्रयाग के साथ जुड़ी हुईं, सभी आध्यात्मिक एवं मिथकीय कल्पनाएँ पुराणों में किन स्रोतों से सम्मिलित की गईं, यह जानना अत्यन्त रोचक विषय है।

वैदिक देववाद से पौराणिक हिन्दू धर्म तक की ऐतिहासिक यात्रा

वेदों का 'देववाद' ऋषियों की सृष्टि है। ये ऋषि, कवि की संज्ञा से भी विभूषित थे। वैदिक ऋचाओं में, प्रकृति और मनुष्य के रिश्ते को, दोनों की परस्पर सम्बद्धता को, जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उनमें प्रार्थना और प्रशस्ति का

स्वर ही प्रधान नहीं है। उसमें जीवन-जगत के प्रति सापेक्ष चिन्तन का आरोह-अवरोह भी है। प्रकृति के विभिन्न अवयवों के प्रतीक स्वरूप, देवताओं के रूप-गुण के निरूपण में, मानवीकरण, रूपकत्व, प्रतीक तथा बिम्बों आदि की भाषा में ऋषियों ने अपनी कल्पना को बहुत अधिक विस्तार दिया है। वेदों का मूलाधार है—प्रकृति, जो सर्वथा 'चेतन' और 'दिव्य' है। इसके अन्तर्गत आकाश, पृथ्वी, पर्वत, नदी, जलाशय, वृक्ष तथा पौधे आदि तो दिव्य व्यक्तियों के रूप में प्रगट होते ही हैं यहाँ तक कि मनुष्य द्वारा निर्मित वस्तुएँ जैसे अस्त्र-शस्त्र, युद्ध-रथ, हल, ढोल, सोम को पीसने के पत्थर तथा यज्ञ-यूप (स्तंभ) आदि भी आराध्य बन गए हैं। इनके अनेकानेक प्रसङ्गों में, अनेक जीव-जन्तुओं को भी दिव्य या अलौकिक रूप में उपस्थित किया गया है। इनमें माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र-वंशज आदि पारिवारिक रिश्तों की भी यथा-प्रसङ्ग चर्चा की गई है। इस प्रकार वेदों से ही पुराकथाओं का जन्म होता है जो सृजनात्मक कल्पना के साथ, विस्तार पाती चली जाती हैं। अनेक व्यक्तियों द्वारा, अनेकों प्रकार से कही जाने के कारण, इन कथाओं में मानवीय आकांक्षाओं के साथ दूसरी कथाओं के अंश भी मिलते-जुड़ते चले जाते हैं। और यह स्थिति भी आती है जैसा कि मेक्डॉनेल महोदय ने लिखा है—कि जब उनके विकास के, बहुत बाद के स्तर पर, हम उन्हें देखते हैं तब पुराकथा, इन परवर्ती उपचयनों के कारण, अपने मूल से इतना अधिक हट चुकी होती है कि उनका विश्लेषण अत्यन्त कठिन और असंभव हो जाता है (वैदिक माइथॉलोजी)।

पुराकथाओं (माइथॉलोजी) के जो सूत्र-संदर्भ, वेदों में अनेक व्यक्तियों, खंडित संवादों, खण्डित कथाओं, दार्शनिक विवादों, धार्मिक-सामाजिक प्रथाओं तथा दैनिक जीवन के वस्तुओं के रूप में प्राप्त होते हैं, उनका अभिप्राय कुछ विस्मृत संदर्भों के कारण, बहुत स्पष्ट नहीं है। ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों एवं सूत्र ग्रन्थों में, इन्हें कथाओं आदि के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। वेदों एवं परवर्ती ग्रन्थों में इतिहास, पुराण, नाराशंसी तथा कथा जैसे ग्रन्थों का उल्लेख है किन्तु इनमें उपलब्ध कोई नहीं है। कहा जाता हे कि इनसे वेदों के सभी प्रसङ्गों एवं उल्लेखों को समझा जा सकता है। 'इतिहास-पुराण' का पृथक या सम्मिलित उल्लेख अथर्ववेद (१५.६.४), जैमिनीय उप० (१.५३), बृहदारण्यक उप० (२.४.१०), छान्दोग्य उप० (३.४.१-२) तथा गोपथ ब्रा० (१३.४.३.१२-१३) आदि में मिलता है। इन्हें 'पंचम वेद, की संज्ञा दी गई है। निश्चय ही ये पुराण वे नहीं है जिनकी रचना २०० ई० से लेकर ८०० ई० तक की गई और बहुसंख्यक रूप में पर्याप्त विभिन्नताओं के साथ उपलब्ध हैं। मत्स्य पुराण में किसी 'पुराण संहिता' का उल्लेख है (५३.४-७)। विष्णु पुराण, भागवत तथा शिव पुराण आदि में भी इस 'पुराण संहिता' का उल्लेख कथाओं के साथ किया गया है। यह 'पुराण संहिता' केवल पौराणिक कथाओं में शेष है।

'नाराशंसी', व्यक्तियों की प्रशस्तियों से संबंधित ग्रन्थ थे। उनका उल्लेख ऋग्वेद (१०.८५.६) तथा अन्य संहिताओं में है। ये नाराशंसी ही रामायण-महाभारत जैसे लौकिक काव्य के आधार बने होंगे। ये ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है। 'कथा' का उल्लेख दार्शनिक वाद-विवाद के अभिप्राय में छान्दोग्य उपनिषद (हन्तोद्गीथे कथां वदाम-१.८.१) में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है।

वास्तव में पुराणों ने, वेदों तथा वेदोत्तर साहित्य में बिखरे हुए, सूत्र रूप में प्राप्त संदर्भों को, काल्पनिक कथाओं के माध्यम से विकसित किया। आज के हिन्दू धर्म के आधार ये पुराण ही हैं। विभिन्न पुराणों का रचनाकाल डॉ० हाजरा के अनुसन्धान के अनुसार ४०० ई० तक है। लोकमान्य तिलक तथा पुराणविद् पार्जीटर महोदय उन पुराणों के लिपिबद्ध होने की अन्तिम सीमा २०० ई० मानते हैं। पुराणों में सोलहवीं शताब्दी तक की ऐतिहासिक सामग्री प्रक्षेप के रूप में मिल जाएगी (यथा, ब्रह्मवैवर्त पुराण का कुछ अंश या ब्रह्म पुराण में तेरहवीं शती के कोणार्क मन्दिर का उल्लेख)। ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, स्कन्द और लिंग आदि मुख्य पुराण तथा ब्रह्माण्ड, देवी भागवत तथा बृहन्नारदीय आदि उप पुराण हैं। इनकी संख्या १८ और ३० है। ये पुराण हिन्दू धर्म के आधुनिक स्वरूप का निर्माण करते हैं। इन पुराणों के साथ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनके नाम के साथ पुराण शब्द का प्रयोग हुआ है या ऐसे ग्रन्थ जो पौराणिक विषयों का प्रवर्तन करते हुए भी अपने को पुराण घोषित नहीं करते। सब मिलाकर पुराणों का साहित्य अत्यन्त विस्तृत है।

इन पुराणों ने वेदों एवं वेदोत्तर साहित्य के अनेक अंशों की, अपने अभिप्राय के अनुसार व्याख्या की। यह भी प्रचारित किया कि वेद और पुराण दोनों में एक ही बात है। यही कारण है कि अल्पज्ञ से लेकर ज्ञानवान व्यक्ति भी, भ्रमवश पुराण की बात को 'वेदोक्त' कहकर उद्धृत कर देता है। पुराणों ने अनेक कथाओं का सृजन किया, अनेक धार्मिक अनुष्ठानों का समावेश किया और अनेक ऐसे देवी-देवताओं को प्रतिष्ठित किया जो वैदिक काल में अपरिचित हैं। पुराणों ने अनेक सम्प्रदायों का प्रचलन किया। इन पुराण रचयिताओं ने (पौराणिक परम्परा में जिन्हें वेद व्यास का शिष्य कहा गया है), अपनी स्वच्छन्दता में, देवताओं से लेकर पर्वतों, नदियों एवं पशु-पक्षियों की कहानियों में, वेदों के मानवीकरण के अभिप्राय के विरुद्ध, अविश्वसनीय काम-प्रसङ्गों को भी जोड़ा। वस्तुतः, ये कामाचार-प्रसङ्ग तत्कालीन समाज की उस संक्रमणशील श्रृंखला के द्योतक हैं जिसमें, विजित अनार्यों की स्त्रियों को दासियों की भाँति रखने तथा उनसे मुक्त कामाचार की पूरी छूट दी गयी थी। जाति-प्रथा की दीवारें दिन-प्रतिदिन अलंघ्य

होती चली जाती थीं। संभवत:, उन्हीं आर्येतर प्रभावों में, पुराण-रचयिताओं ने आर्येतर जातियों के देवताओं, प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों को हिन्दू धर्म में समाहित कर समस्त भारत को धार्मिक एकता के सूत्र में आबद्ध करने का स्तुत्य कार्य भी किया है।

आर्येतर संदर्भों से तीर्थों की स्थापना-जल आदि की पवित्रता

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक देवता, अनेक तीर्थ, अनेक उत्सव तथा अनेक प्रथाएँ आर्यों से नहीं, आर्येतर जातियों से ग्रहीत हुई हैं। इन सबका संयोजन पुराणों में है। पुराणों का जो रचना-काल है वह, आर्यों के अपने मूल निवास-स्थान 'सप्त सिन्धव:' से आगे बढ़कर पूर्वीय भाग में भी स्थायी रूप से बस जाने के बाद का समय है। ऋग्वेदोत्तर काल में काशि या काश्य (काशी), कोशल, विदेह (विदेध-शतपथ-१.४.१.१०), मगध (अथर्ववेद में ज्वर के चले जाने की प्रार्थना-५.२२-१४), अङ्ग (मगध के साथ) आदि पूर्वीय देशों का नाम आता है। गुप्त काल में वैदिक धर्म के साथ-साथ वैष्णव, शैव, तन्त्रवाद, नाग और यक्ष-पूजा आदि के साथ अवतारवाद का भी विकास हो चुका था। इनके विपरीत बौद्ध और जैन धर्म उस समय अधिक लोकप्रिय नहीं रह गए थे।

वेदों में नदियों, जलाशयों एवं वृक्षों की स्तुतियाँ मिलती है और उनका मानवीकरण भी कम स्पष्ट नहीं है। ऋग्वेद में आप: (जल) को मूर्तीकरण के रूप में, माताएँ, पत्नियाँ तथा यज्ञ में वरदान देने वाली देवियों की भाँति देखा गया है (७.४९.३)। इनके पवित्र करने की क्षमता का भी बखान है (१०.१७.७)। साथ ही नैतिक अपराध, हिंसात्मक पाप, शाप तथा झूठ से मुक्त होने के लिए इन जल देवियों का आवाहन किया गया है (१.२३.२२ तथा ६.५०.७)। नदियों में पवित्रता का बोध देने वाले ये सूत्र गंगा की पवित्रता के कारण बने और जलों (जल देवियों) के प्रति वात्सल्य पूर्ण माता का जो मूर्तीकरण है (१०.९.२) वही गंगा आदि में माँ के आरोप का मूल स्रोत है। वेदोत्तर काल में जलाशयों एवं वृक्षों की पूजा होने लगी थी।

जिस प्रकार आर्येतर जातियों के प्रत्यक्ष संपर्क से वैदिक धर्म, हिन्दू धर्म में परिवर्तित हुआ उसी प्रकार तीर्थ को तत्कालीन लोक-प्रभाव में ग्रहण किया गया। नदी और जल की पवित्रता तो आर्यों की देन है लेकिन तीर्थों की प्रतिष्ठा आर्येतर जातियों की है। वैदिक आर्य, यज्ञों के अवसर पर ही आपस में मिलते थे। बड़े यज्ञों की बड़ी व्यवस्था में, हजारों लोग भाग लेते थे और इससे अधिक लोग इनसे प्रभावित होते थे। अवैदिक अथवा आर्येतर जातियों का मिलन-स्थल 'तीर्थ' है जो निश्चय ही किसी जलाशय के किनारे होता था। आचार्य क्षितिमोहन सेन

आर्येतर प्रभाव में तीर्थों के ग्रहण किए जाने की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि 'तीर्थ' शब्द वेद-बाह्य है। इसीलिए वेद-विरोधी मत को 'तैर्थिक मत' कहा जाता है (संस्कृत-संगम)। वैदिक सभ्यता का केन्द्र तथा प्रचार-स्थल यज्ञ था और अवैदिक सभ्यता का केन्द्र और प्रचार-स्थल—तीर्थ। 'तीर्थ' शब्द का अभिप्राय नदी के तरण स्थल अर्थात् 'घाट' से है और इसी अभिप्राय में इसका प्रयोग वाल्मीकि-रामायण के अतिरिक्त लगभग छठी-सातवीं तक की लिखी गई पुस्तकों में हुआ है। यथा—'कृत तीर्थः पयसामिवाशयः'—किरातार्जुनीय (२.३), 'तीर्थं सर्वविद्यावताराणां'—कादम्बरी (४४.३)। गुप्त काल में तीर्थ यात्रा का प्रचार हो चुका था। तीर्थ स्थलों पर दान देने की भी प्रथा थी। हर्षवर्धन के समय में प्रयाग, गंगा द्वार तथा कुरुक्षेत्र में स्नान आदि का महत्व बढ़ गया था। इस समय मत-मतान्तर तथा सम्प्रदाय भी बहुत अधिक बढ़ गए थे। 'कादम्बरी' में मस्करी, शैव, पाराशरी, पाशुपत्, लोकायतिक, भागवत, वर्णी, ऐश्वर्यकारणिक, औपनिषदिक, पांचरात्रिक एवं पौराणिक आदि का उल्लेख है।

प्रयाग की तीर्थराज के रूप में प्रतिष्ठा

वैदिक काल में प्रयाग का अस्तित्व नहीं था। श्रुतियों में प्रयाग शब्द का भी उल्लेख नहीं है। वाल्मीकीय रामायण में भी यह नाम दो-तीन बार ही आया है। उस समय यह प्रयाग गंगा के दक्षिण 'वत्स' नामक राज्य का एक छोटा सा गाँव रहा होगा। हाँ, गंगा-यमुना का संगम होने से इसका महत्व बढ़ता गया। कालिदास ने इसकी प्रशंसा की है तबका प्रयाग, न तो तीर्थ था और न तीर्थराज। हर्षवर्धन के समय में प्रयाग का महत्व उसकी सभाओं के कारण बढ़ा। वह प्रयाग में पाँच धर्म सभाएँ कर चुका था। ह्वेन-सांग के चीन जाने के पूर्व उसने छठी धर्म-सभा की भी। इसमें, उसके अधीनस्थ राजाओं ने भी भाग लिया था। प्रयाग की यह सभा ७५ दिनों तक चली थी। कन्नौज और प्रयाग की इन सभाओं में बौद्ध धर्म के 'महायान' सम्प्रदाय की विजय घोषित की गई। इस सभा के अवसर पर हर्षवर्धन की दानशीलता की चर्चा इतिहासकारों ने विशेष रूप से की है।

तीर्थराज के रूप में प्रयाग की प्रतिष्ठा पुराणों की देन है। प्रयाग का अभिप्राय भी पौराणिक कथाओं में ब्रह्मा द्वारा (प्रकृष्ट-याग) प्रकृष्ट नामक यज्ञ करने में निहित है। यह भी कहा जाता है कि यज्ञ की यह विधि, आर्यों के मूल निवास-स्थान से पूर्व की ओर आई और प्रयाग में प्रतिष्ठित हुई। पुराणों में प्रयाग को महत्वपूर्ण बनाने के लिए अनेकानेक कथाओं का सृजन हुआ। रामायण और महाभारत में भी इन पौराणिक कथाओं के प्रक्षिप्त रूप मिल जाएंगे। इस प्रकार तीर्थराज के रूप में प्रयाग का उल्लेख महाभारत में भी 'पूज्यते तीर्थराजस्तु सत्यमेव युधिष्ठिर', 'ब्रह्मादि स्मरते नित्यं प्रयागं तीर्थोत्तमम्', दिखाई पड़ जाएगा। यद्यपि कालिदास

ने 'रघुवंश' में प्रयाग को सितासित जल वाली गंगा-यमुना के संगम के रूप में ही स्मरण किया है।

प्रयाग की त्रिवेणी में सरस्वती

प्रयाग की त्रिवेणी में तीन नदियाँ सम्मिलित हैं—गंगा, यमुना तथा अदृश्य सरस्वती। भाषा-शास्त्रियों के अनुसार 'गंगा' शब्द औष्ट्रिक जातियों का है। गंगा से आर्यों का परिचय तब हुआ जब वे पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़े थे। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से, नदी-स्तुति (१०.७५.५) में केवल एक बार गंगा का उल्लेख हुआ है। अन्य संहिताओं में गंगा का नाम नहीं है। शतपथ ब्राह्मण (१३.५.४.११) में, गंगा का उल्लेख भरत दौःषन्ति अथवा कुरुओं के शासन की सीमा (विजय के फलस्वरूप) के रूप में है। तैत्तिरीय आरण्यक (२.२०) में गंगा और यमुना के बीच के क्षेत्र में रहने वालों की चर्चा है। स्पष्ट है कि वैदिक काल में गंगा से आर्यों का विशेष परिचय नहीं था। यमुना का ऋग्वेद में तीन बार (५.५२.१७, ७.१८.१९ तथा १०.७५.५) उल्लेख है। तृत्सुओं और सुदास ने इसी नदी के तट पर अपने शत्रुओं पर महान विजय प्राप्त की थी (ऋ०-७.१८.१९)। ऐतरेय, शतपथ तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यमुना का उल्लेख मिलता है।

सरस्वती की प्रशस्ति ऋग्वेद के तीन सूक्तों में पूर्ण रूप से तथा आंशिक रूप से कई सूक्तों के मंत्रों में मिलती है। इस नदी की सात बहनें है और यह -सप्त स्वरीय' है (ऋ० ६.६१.१०-१२)। इसे सरस्वत योधा की पत्नी कहा गया है (ऋ० ६.४९.७)। माता (अम्बा) के रूप में यह अकिंचन को भी समृद्धि देती है (ऋ० २.४१.१९)। इसे पूषन, इन्द्र, मरुतों तथा अन्य देवताओं से भी सम्बद्ध किया गया है। इसे अश्विनों की भी पत्नी कहा गया है (वाजसनेयी संहिता-१९.१४)। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अनेकों बार इसे, 'इडा' तथा 'भारती' से तथा ब्राह्मणों में 'वाच्' के साथ समीकृत होते देखते हैं (शतपथ-३.९.१.७, ऐतरेय ३.१.१०)। वैदिकोत्तर पुराकथा में यह बुद्धि और वाक् की देवी बन गई। इसे विद्या की देवी भी माना गया और ब्रह्मा की पत्नी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। पुराणों की एतद्विषयक कथाओं के सूत्र, वाजसनेयी संहिता (१९ : १२ आदि) में मिल जाएंगे।

सरस्वती की कई सहायक नदियों में केवल दो का ही उल्लेख स्पष्ट है। इनमें आपया (ऋ० ३-२३-४) कुरुक्षेत्र की नदी है। मानुष तीर्थ के पूर्व ३ मील की दूरी पर है (वैदिक साहित्य-बलदेव उपाध्याय)। दृषद्वती भी सरस्वती की सहायक नदी है। आजकल इसे घग्घर या चितंग नदी कहते हैं। सरस्वती, इस नदी के साथ ब्रह्मावर्त की पश्चिमी सीमा का निर्माण करती थी। कात्यायन तथा

आश्वालायन आदि सूत्रों में सरस्वती के किनारे किए गए यज्ञों को महत्वपूर्ण माना गया है (१३.३.२०, १२.६.२-३)। सरस्वती के तट पर ही पाँच जातियों (पंचजना:) का निवास बताया गया है (ऋ० ६.६१.१२)। सरस्वती को वैदिक ऋषि श्रेष्ठ (नदीतमा) मानते थे (ऋ० २.४१.१६)।

इस विवरण से स्पष्ट है कि सरस्वती नदी केवल नदी नहीं है बल्कि यह सरस्वत की या अश्विनों की पत्नी और इडा, भारती तथा वाच् से समीकृत है। इसे 'अम्बा' भी कहा गया है, 'मही' तथा 'होत्रा' से भी सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद तथा ऋग्वेदोत्तर काल में ही इसे कई मिथकों से सम्बंधित कर दिया गया था। पुराणों में सरस्वती को अनेक कथाओं में अनेक मिथकों से जोड़ा गया। प्रयाग में सरस्वती का आगमन इसके तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि जब प्रयाग को तीर्थ से तीर्थराज के रूप में प्रतिष्ठित करने की परम्परा चली तो सरस्वती को प्रयाग में स्थानान्तरित करना आवश्यक हो गया। अत:, संभवत: तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में एक नयी मिथकीय कथा में सरस्वती को, उसके 'विनशन' के बाद 'प्लक्ष-प्रास्रवण' अर्थात् पुन: प्रगट होने के स्थान को 'सप्त सिन्धव:' (पंजाब) से प्रयाग (इलाहाबाद) स्थानान्तरित कर दिया गया। ऋग्वेद के एक मंत्र (१०.७५.५) में, जहाँ नदियों के नाम गिनाए गए हैं, गंगा-यमुना के बाद सरस्वती का नाम लिया भी गया है।

त्रिवेणी के रूप में, सरस्वती का किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में उल्लेख नहीं है। सतीश चन्द्र काला ने, १६वीं शती के नारायण भट्ट के 'त्रिस्थली सेतु' नामक निबन्ध का उल्लेख, इलाहाबाद नगरपालिका से प्रकाशित विशेषांक के अपने लेख में किया है किन्तु त्रिवेणी शब्द के मूल स्रोत का उल्लेख इस निबन्ध में नही है। पुराणों में गंगा-यमुना के संगम स्थल तीर्थराज प्रयाग का उल्लेख अनेक प्रकार से, अनेक कथाओं के माध्यम से किया गया है। अस्तु, प्रयाग में सरस्वती का उपाख्यान, इसका स्थानान्तरण, पौराणिक काल का हो अथवा इसके बाद का—सरस्वती को, अब जन-मानस, प्रयाग में ही स्थापित करने का अभ्यस्त हो चुका है।

●

राम-कथा में 'राम-राज्य'—राजतंत्र में प्रजातंत्र की परिकल्पना

महर्षि वाल्मीकि की रामायण से लेकर, प्राचीन तथा इतर भारतीय भाषाओं के राम-कथा सम्बन्धी ग्रन्थों में, जहाँ कहीं भी राम-राज्य का प्रसङ्ग है वहाँ, उसे एक अपार्थिव आदर्श राज्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कुछ लोग उसे 'यूटोपिया' कहते हैं क्योंकि मानव-जीवन के यथार्थ से, यह काफी दूर है और ऐसा राज्य, इस पृथ्वी पर संभाव्य नहीं है। भारत तथा उसके सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत, जितने भी देश हैं, जितनी भी भाषाएँ हैं, उन सब में राम को केन्द्रित कर, जितना साहित्य रचा गया है उतना, सम्पूर्ण विश्व में किसी व्यक्ति विशेष को लेकर, आज तक नहीं लिखा गया। राम, हिन्देशियाई क्षेत्र की संस्कृति के महानायक हैं, और उनकी कथा—काव्य, नृत्य, नाट्य और अन्य कलात्मक रूपों में, अनेक स्थानीय रंगों में उभर कर सामने आई है। स्थानीय देवी-देवताओं से, राम-कथा के सम्बन्ध-सूत्र भी, विविध रूपों में विकसित हुए हैं। वास्तव में, राम-कथा वह बृहत् भाव-भूमि है जहाँ से कवियों एवं कलाकारों ने, अपनी कल्पनाओं में, जीवन की सभी दिशाओं की ओर मुक्त उड़ानें भरी हैं। इसीलिए, सम्पूर्ण विश्व के, एक विस्तृत क्षेत्र में, जन-जीवन को प्रेरणा प्रदान करने वाली राम-कथा तथा उसके अन्तर्गत प्रसंगतः आने वाले राम-राज्य को, केवल काल्पनिक आदर्श या 'यूटोपिया' कहकर, लोगों के विचारों से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह आदर्श, यथार्थ से चाहे जितना दूर हो, उस ध्रुवतारे के समान है जो धरती से दूर रह कर भी, दिग्भ्रम की स्थिति में सबका मार्गदर्शन करता है।

राम-राज्य, आदर्श राजतंत्रीय परम्परा का द्योतक है। यह परम्परा राम के पूर्वजों की है जो स्वभावतः, प्रजा के हित के लिए समर्पित थे। राम भी उसी परम्परा के प्रतिनिधि हैं। यदि हम राम-कथा के अन्तर्गत, राजा राम और राम की प्रजा के आपसी रिश्तों पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि राम का प्रत्येक आचरण, उनका पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन, उनका राजनीतिक ताल-मेल—

संधि-विग्रह आदि, सभी प्रजा के हित के लिए है । ऐसी स्थिति में राम, राजा नहीं वरन् जनता के सच्चे प्रतिनिधि हैं और राम-राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था, प्रजा केन्द्रित होने से, प्रजातंत्रीय ही है ।

कहा जाता है कि असुरों से पराजित और त्रस्त होकर, देवताओं ने यह अनुभव किया कि कुशल नेतृत्व के अभाव में ही, उनकी पराजय हो रही है । उन्होंने सर्व-सम्मति से शक्तिशाली इन्द्र को अपना राजा चुना (ऐतरेय ब्रा० १.१४) । राजा की चुनाव प्रक्रिया पर, अथर्ववेद (७.८७-८८) तथा ऋग्वेद (१०.१७३) में, तीन सूक्त मिलते हैं। चुनाव और प्रशासन के लिए, 'समिति' और 'सभा' के रूप में, जन-सहयोग या समर्थन भी अपेक्षित था। अनपेक्षित आचरण या प्रजा के हित की अवहेलना करने पर, राजा को पद-च्युत और निर्वासित भी किया जा सकता था। 'समिति' का कार्य, नये राजा का चुनाव या पद-च्युत और निष्कासित राजा को पुन: प्रतिष्ठित करना था। इसमें प्रजा के साथ, राजा के भी उपस्थित रहने की अपेक्षा की जाती थी । इसका रूप कुछ-कुछ आधुनिक 'संसद' जैसा था । 'सभा' में मंत्रियों एवं गण्यमान्य व्यक्तियों द्वारा, महत्वपूर्ण प्रश्नों एवं समस्याओं पर विचार होता था। अथर्ववेद के एक मंत्र (७.१२.२) में सभा को 'नरिष्टा' कहा गया है। सायण के अनुसार इस शब्द का तात्पर्य यह है कि सभा के अनेक लोग मिलकर, जिस निर्णय पर पहुँचते हैं, वह सर्वमान्य और अलंघनीय होता है । समिति और सभा, प्रजापति की दो पुत्रियाँ कही गई हैं (अथर्ववेद ७.१३.१) । इन सीमित विवरणों से ही यह ज्ञात होता है कि भारत में प्रारम्भ से ही, राज-तंत्र को नियंत्रित रखने और जनता की अपेक्षाओं के अनुकूल बनाने के प्रयत्न मिलते हैं ।

ऐतरेय ब्राह्मण में ही राजसूय यज्ञ के संदर्भ में जिन अनेक प्रकार के राज्यों का उल्लेख है उनमें राज्य, साम्राज्य, महाराज्य, भौज्य, स्वराज्य तथा वैराज्य के कुछ विवरण भी अन्यत्र प्राप्त होते हैं । राज्य, सम्राज्य और महाराज्य, सामान्यतया राजतंत्रीय व्यवस्था के ही परिचायक हैं । कई राज्यों के अधिपति के लिए 'सम्राट' या 'महाराज' का विशेषण मान्य था किन्तु सामान्य राजाओं के लिए भी, उनके आश्रितों द्वारा इन शब्दों का प्रयोग होने लगा था । 'भौज्य' एक प्रकार की गणराज्य पद्धति थी। यह पद्धति तत्कालीन सात्वतों अर्थात् यादवों में प्रचलित थी। महाभारत में भी यादवों के 'अन्धक-वृष्णि' संघ का उल्लेख है । 'स्वराज्य' में, सभी गणों के ऊपर, एक अध्यक्ष (राष्ट्रपति) शासन करता था । 'वैराज्य', एक विशिष्ट प्रजातंत्रीय पद्धति थी जिसमें कोई राजा नहीं होता था । कौटिल्यीय अर्थशास्त्र में, वैराज्य की निन्दा की गई है । प्राच्य और मध्य देश में राजतंत्रीय पद्धति ही, विशेष रूप से प्रचलित थी। शतपथ ब्राह्मण के तेरहवें कांड के विशेषतया पाँचवें

अध्याय में, अश्वमेघ यज्ञ करने वाले, विभिन्न कबीलों के अनेक राजाओं का नामोल्लेख है ।

वेदों के पंचजना : (तुर्वश, यदु, पुरु, तृत्सु, तथा द्रुह्यु) के अतिरिक्त भी कम्बोज, गन्धारि, पक्थ, भलानस, विषाणिन्, अलिन, शिव तथा वृचीवन्त आदि कबीलाई राज्यों के उल्लेख मिलते हैं । इनमें कुछ तो राजतंत्र थे, कुछ में अभिजात वर्गीय (कुलीन तंत्र) प्रशासन था और कुछ प्रजातंत्रीय पद्धति से अपनी व्यवस्था का संचालन करते थे । ऐसे राज्य भी थे जहाँ शान्ति के समय, कोई राजा नहीं होता था । इसका संकेत ऋग्वेद (१०.९७.६) में मिलता है ।

* * * *

राम ने जिस राजवंश में जन्म लिया था वह सूर्य पुत्र वैवस्वत मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु का सुप्रसिद्ध और प्राचीनतम राजवंश था । पुराणों के अनुसार इस राजवंश की ९९ पीढ़ियों ने राज्य किया । इस राजवंश में मान्धाता, सगर, भगीरथ, हरिश्चन्द्र, दिलीप, रघु, अज, दशरथ तथा राम जैसे नृपतियों ने अपने विशिष्ट गुणों के कारण, प्रजाजनों के बीच विशेष लोकप्रियता प्राप्त की । आदिकवि महर्षि वाल्मीकि, बहुत समय से ऐसे विशिष्ट व्यक्ति को, अपने काव्य का विषय बनाना चाह रहे थे जो सर्वगुण-सम्पन्न हो और जिसके आचरणों की प्रशंसा की जाती हो । उन्होंने देवर्षि नारद से अपनी जिज्ञासा प्रगट की । नारद जी ने राम को ही सर्वथा उपयुक्त बताया और विस्तार से, उनकी आकृति, प्रकृति तथा स्वभाव की विशेषताओं के साथ उनके कार्य-कलापों का, विवरण प्रस्तुत किया । उन्होंने कहा कि राम, विष्णु के सदृश शक्तिवान, चन्द्र के समान प्रियदर्शन, क्रोध में कालाग्नि की तरह तथा सामान्य स्थिति में पृथ्वी की भाँति क्षमाशील हैं ।

> विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः
> कालाग्नि सदृशः क्रोधे क्षमया पृथ्वी समः । (बालकांड ४.१८)

पुनः, तमसा नदी के तट पर क्रौञ्च-वध से दयाद्र होकर, उनके मुख से 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः' जैसी छन्दबद्ध पंक्तियों के प्रगट हो जाने से, इसी श्लोक अथवा अनुष्टुभ् छंद में, ब्रह्माजी की प्रेरणा से, उन्होंने राम-कथा को संस्कृत में निबद्ध किया । यह राम-कथा अथवा रामायण, परवर्ती काल के सभी राम-कथाओं का मूलाधार है । चौबीस हजार श्लोकों वाला यह राम-काव्य, सर्वप्रथम लव और कुश को पढ़ाया गया था । इस रामायण में राम को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित करने का कोई उपक्रम नहीं है । राम की ईश्वरता की प्रतिष्ठा मुख्यतया बालकांड और उत्तरकांड में होती है जो प्रक्षिप्त माने जाते हैं । यों तो

वे पाँच कांड अर्थात् अयोध्या कांड से लेकर युद्ध कांड भी, जो कवि वाल्मीकि द्वारा आदि काव्य के रूप में प्रणीत माने जाते हैं, प्रक्षेपों से रहित नहीं है ।

वेदों तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में, कुछ अप्रांसगिक नामों के अतिरिक्त, किसी कथा के रूप में, सर्वथा अनुपलब्ध 'राम-कथा' किन स्रोतों से आकार ग्रहण करती है—इसका कोई समाधान आज तक प्राप्त नहीं हो सका है । प्राय: यह कहा जाता है कि कवि वाल्मीकि की रामायण के पूर्व भी, रामायण वीर-गीतों के रूप में प्रचलित रही होगी । वेदों में इतिहास, पुराण तथा नराशंसी जैसे वर्णनात्मक काव्यों का उल्लेख तो है किन्तु इनका कोई रूप उपलब्ध नहीं है । मूल वाल्मीकीय रामायण के राजा राम, बाद के ग्रन्थों में अलौकिकत्व की ओर प्रस्थान करने लगते हैं और ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तरखंड—अध्यात्म रामायण तक पहुँचकर वे ब्रह्म स्वरूप अवतारी पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं । इतर भारतीय भाषाओं की क़ई कृतियों में, आधुनिक प्रजातंत्रीय पृष्ठभूमि के अनुकूल, राम को पुन: मानव की भाव-भूमि तक लाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है । रामचरित मानस के ('व्यापक, ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत विनोद') ब्रह्म राम, साकेत में पहुँचकर, आदर्श मानव के रूप में यह घोषणा करते है कि 'संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया, इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।' इस प्रकार, राम-कथा सम्बन्धी ग्रन्थों में बदलती हुई युगीन प्रवृत्तियों के अनुकूल, राम-कथा के नये आयाम भी प्रस्तुत किए जाते रहे हैं ।

* * * *

कोई भी प्रशासन व्यवस्था, चाहे वह राजतंत्रीय हो, अभिजातीय हो या प्रजातंत्रीय हो, यदि वह उत्तम कोटि की है तो उसका तात्कालिक प्रभाव, उस देश की जनता के आचरण-व्यवहार तथा सुख-समृद्धि में देखा जा सकता है । वाल्मीकीय रामायण के बालकांड में, इक्ष्वाकुवंशीय राजा सगर आदि की वंश परम्परा में राजा दशरथ के कोशल राज्य का वर्णन है जिसकी राजधानी अयोध्या है । महाजनपद कोशल की इस महानगरी अयोध्या की जो स्थिति राजा दशरथ के शासन काल में थी, राम के समय में भी वही स्थिति वर्तमान है । राम चरित मानस के उत्तरकांड में, इस अयोध्या का और भी विस्तार से वर्णन है जिससे वह अधिक अलौकिक एवं दिव्य नगरी के रूप में प्रत्यक्ष होती है ।

वाल्मीकीय रामायण के अनुसार महाराज मनु द्वारा बसाई गई अयोध्या, बारहयोजन (९६ मील) लम्बी तथा तीन योजन (२४ मील) चौड़ी है । वहाँ से बाहर की ओर जाने वाले सभी राजमार्ग वृक्षों से सुशोभित एवं पुष्पावकीर्ण हैं । यह पुरी बड़े फाटकों एवं दरवाजों से युक्त है । बाजार पृथक्-पृथक् हैं । स्तुतिवाचक

सूत तथा वंशावली की प्रशंसा करने वाले मागध वहाँ अधिक संख्या में है। वहाँ बहुत-सी नाटक-मंडलियाँ हैं जिनमें केवल स्त्रियाँ ही अभिनय करती हैं (वधू नाटक संघैश्च....)। नगरी के चारों ओर गहरी खाईयाँ है जो अलंघ्य हैं। कर देने वाले राजाओं की वहाँ भीड़ लगी रहती है। सभी प्रासाद रत्नजड़ित एवं स्वर्णमंडित हैं। विविध प्रकार के वाद्य बजते रहते हैं। शब्दवेधी बाण चलाने वाले तथा हिंसक पशुओं (सिंह आदि) को केवल हाथ से मार डालने वाले योद्धा वहाँ अनगिनत है। (बालकांड—सर्ग-५)

वहाँ के निवासी प्रसन्न-चित्त, धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभी, सत्यवादी एवं सर्वथा संतुष्ट जन हैं। सभी के पास उपभोग की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में हैं। पशुधन भी पर्याप्त है। स्त्री हो या पुरुष, कोई भी अलंकारविहीन नहीं रहता। सभी संयमी और सदाचारी हैं, सभी यज्ञादि में विश्वास करते हैं। सभी वर्ण, अपनी मर्यादाओं के अनुकूल आचरण करते हैं। श्रेष्ठतम हाथी तथा घोड़े देश-विदेश से लाकर बहुत अधिक संख्या में, अयोध्या में रखे गए हैं। नक्षत्रों के शासक चन्द्रमा की तरह राजा दशरथ इस अयोध्या के शासक हैं। (बालकांड, सर्ग-६)

राजा दशरथ के राज-काज का संचालन, मंत्रित्व में कुशल तथा मनोभावों को जानने वाले आठ मंत्रियों द्वारा होता है। राज्य के दो श्रेष्ठ ऋत्विज हैं। पूर्व परम्परागत ऋत्विज भी मंत्रियों का कार्य करते हैं। उनके सौहार्द की अनेकों बार परीक्षा हो चुकी है। वे सभी शुद्ध भावों एवं विचारों वाले हैं। गुप्तचरों द्वारा वे शत्रु-देशों पर दृष्टि रखते हैं। उनके प्रशासन में, अयोध्या ही नहीं वरन् समस्त कोशल जनपद में एक भी दुष्ट, मिथ्यावादी तथा स्त्री-लंपट व्यक्ति नहीं है। (बालकांड—सर्ग-७)

प्रजा वर्ग में सुख, शान्ति, शौर्य और समृद्धि की संवृद्धि करने वाले, कोशल जनपद का प्रशासन, राजतंत्रीय प्रणाली के अनुकूल होते हुए, प्रजा केन्द्रित है। अतः, उसका उद्देश्य, प्रजातंत्रीय प्रशासन से पृथक् नहीं है। राम को अपने रिक्थ-क्रम में यही कोशल राज्य और यही राज्यतंत्रीय प्रणाली प्राप्त हुई जिसे उन्होंने अपने विशिष्ट कार्यकलापों से और भी अधिक जन-केन्द्रित बनाया।

'राम-राज्य' की जिन विशेषताओं का उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में है प्रायः उन्हीं का वर्णन किंचित परिवर्द्धन के साथ, परवर्ती राम-कथा सम्बन्धी ग्रन्थों में किया गया है। वाल्मीकीय रामायण के 'युद्ध कांड' तथा अध्यात्म रामायण एवं रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में इस राम-राज्य का संदर्भ है। प्रथम दोनों ग्रन्थों में विशेषतया उत्तरकांड में राम-राज्य में घटित होने वाली कुछ घटनाओं का भी उल्लेख है जिनमें शम्बूक वध और सीता का परित्याग, इस राम-राज्य की व्यवस्था से सीधे सम्बन्ध रखते हैं। इन पर यथावसर आगे विचार किया जाएगा।

इस समय प्रश्न यह है कि राम-राज्य, परम्परागत राजतंत्रीय प्रणाली से किस प्रकार भिन्न है ? इसके वे कौन से विधान हैं जिनसे यह प्रजा के हित को सर्वोपरि मानकर, राजतंत्र के अंतर्गत, प्रजातंत्रीय उद्देश्यों की ओर उन्मुख होता है ?

'राम-राज्य' की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है—वर्णाश्रम धर्म की स्थापना। आज की विचारधारा में, यह तथ्य प्रतिगामी प्रवृत्तियों का द्योतक हो सकता है किन्तु, उस समय यह समाज और राजनीति का ज्वलन्त 'सत्य' था। तत्कालीन कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति इसके विपरीत सोच भी नहीं सकता था। वाल्मीकीय रामायण में अनेक प्रकार से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि राम-राज्य में, सभी वर्ण, लोभरहित होकर, अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं और सभी अपने-अपने कर्मों से संतुष्ट भी हैं—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टा स्वैरेव कर्मभिः। (युद्ध काण्ड, १२८.१०४)

अध्यात्म रामायण में 'जनाः धर्मपरा सर्वे...(उत्तर०.२२)' तथा रामचरित मानस में 'वरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद-पथ लोग (उत्तर०-२०), तथा इसी प्रकार के अन्य उल्लेखों से इस वर्णाश्रम धर्म को अपरिहार्य और अलंघनीय बताया गया है। यह सर्वविदित है कि महात्मा गाँधी 'राम-राज्य' के समर्थक थे और उनकी कल्पना के अनुसार, स्वतंत्रता के बाद भारत में इसी राम-राज्य की प्रतिष्ठा अपेक्षित थी। अतः, इस वर्णाश्रम धर्म को किंचित परिवर्तनों के साथ वे भी स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—

"मेरे विचार से वर्णाश्रम, मानव-प्रकृति की एक सहज विशेषता है और हिन्दू धर्म ने सिर्फ इतना ही किया है कि उसे शास्त्र का रूप दे दिया है। वर्णाश्रम का सम्बन्ध निश्चय ही जन्म से है। कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से अपना वर्ण बदल नहीं सकता। अपने वर्ण के बन्धन को न मानना आनुवंशिकता के नियम को अमान्य करना है। लेकिन, यह जो हिन्दू समाज को असंख्य जातियों में विभक्त कर दिया गया है, उसे इस सिद्धान्त के साथ बिना किसी कारण के मनमानी करना माना जाएगा।" वर्णाश्रम को जन्मना स्वीकार करते हुए भी, वे इसे खान-पान तथा विवाह-सम्बन्ध में बाधक नहीं मानते। उनके अनुसार "चार वर्ण लोगों के व्यवसायों को निर्धारित करते हैं, सामाजिक समागम को प्रतिबन्धित या नियमित नहीं करते। वे लोगों के कर्तव्य निर्धारित करते हैं किसी को कोई विशेष अधिकार प्रदान नहीं करते।" (रा० सहारा-हस्तक्षेप-२५.९.९४)

* * * *

वर्णाश्रम धर्म से ही सम्बन्धित 'शम्बूक-वध' राम-राज्य का एक चर्चित आख्यान है। मथुरा जनपद के एक ब्राह्मण-पुत्र का तेरह वर्ष की अवस्था में ही

देहावसान हो गया। ब्राह्मण का कहना था कि राम के ही किसी दुष्कर्म के प्रभाव से ऐसा हुआ है 'रामस्य दुष्कृत्यं किंचिन्महदस्ति न संशय:' (उ० ७३.१०)। नारद जी कहते हैं कि त्रेता में वर्णाश्रम धर्म ही प्रधान है। सत्य युग में ब्राह्मणेत्तर व्यक्ति तपस्या में प्रवृत्त नहीं होता। त्रेतायुग में क्षत्रिय भी उसी प्रकार तपस्या में रत हुए। पहले ब्राह्मण उत्कृष्ट थे, त्रेतायुग में क्षत्रिय भी समान रूप से शक्तिशाली हो गए। त्रेता युग में अधर्म अपना एक पाँव रखता है और द्वापर में दूसरा। इसीलिए द्वापर में तपस्या कर्म, वैश्यों को भी प्राप्त हो जाता है। शूद्र का द्वापर में भी तप: प्रवृत्त होना अधर्म है। (उत्तरकांड ७४.९-१२)

राम ने पुष्पक विमान पर बैठकर, सभी दिशाओं में भ्रमण कर दुष्कर्म का पता लगाया। उन्होंने एक महासरोवर देखा जहाँ एक तपस्वी महान तपस्या कर रहा था। राम ने उसका परिचय पूछा। नीचे मस्तक कर, लटके हुए उस तपस्वी ने, शूद्र योनि में उत्पन्न अपना नाम शम्बूक बताया—

> शूद्रो योन्यां प्रजातोऽस्मि तप: उग्र समास्थिता:
> देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायश:। (उ० ७६.२)

इस प्रकार, उसके बोलते ही, राम ने म्यान से अपनी चमचमाती तलवार निकालकर उसका सिर, धड़ से अलग कर दिया—

> भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिर प्रभम्
> निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघव:। (वही, ७६.४)

वर्णाश्रम धर्म तत्कालीन ऋषियों, मुनियों तथा विद्वानों द्वारा पूर्णतया समर्थित था। इसीलिए 'सर्वभूतहितेरत:' राम भी इसके विपरीत जाने का साहस नहीं कर सकते थे। राम के चरित्र की इस विसंगति को, अध्यात्म रामायण आदि में उनके ईश्वरत्व को स्मरण कर, यह कहा गया कि शम्बूक का वध कर राम ने उसे स्वर्ग प्रदान किया। इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि राम-राज्य में व्यक्ति के मूलाधिकार, वर्णाश्रम धर्म के द्वारा पूर्णतया नियंत्रित थे।

इसी प्रकार वालि-वध के संदर्भ में भी यह बात देखी जाती है कि राम सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा के लिए भी कृत-संकल्प थे। वे, सुग्रीव से द्वन्द्व-युद्ध करते हुए वालि पर, छिपकर प्रहार करते हैं। मरणासन्न वालि, राम के इस कृत्य की भर्त्सना करता है साथ ही यह प्रश्न करता है कि इस प्रकार छिपकर, प्रहार करके आपने कौन-सा पुण्य कमाया? आप तो घास-फूस से ढके कूप के समान धोखा देने वाले हैं (किकिष्ध कांड-१७.२२)। इसके समाधान में राम ने दो कारण बताए। पहला, यह कि तुमने सनातन धर्म के विपरीत अपने छोटे भाई की पत्नी को अपनी भार्या बना लिया 'भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्म सनातनम्' १८.१८)। दूसरा यह कि मनुष्य जाल फैलाकर, फंदे डालकर तथा नाना प्रकार के कूट उपाय से जानवरों को मारते या पकड़ते हैं। यह मृगया है इसमें दोष नहीं (१८.२९)। राम

का यह आचरण सामाजिक मर्यादा की रक्षा अवश्य करता है किन्तु इसे सर्वथा औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

* * * *

राम-राज्य की दूसरी विशेषता राम के कुशल प्रशासन की है। एक ऐसा प्रशासन जिनमें, राज्य की समस्त गतिविधि, राज-परिवार के हित में नहीं वरन्, प्रजा के हित में निहित है। इस राज्य में प्रकृति भी प्रजा के अनुकूल है। राम के राज्य में विधवाओं का रुदन नहीं सुनाई पड़ता। सर्प आदि दुष्ट जन्तुओं का भय नहीं है और न किसी को रोगों का भय रहता है। सारा राज्य दस्युविहीन है। कहीं कोई अनर्थ नहीं होता। किसी भी वृद्ध व्यक्ति को, अपने पुत्र के दाह-संस्कार जैसा अशुभ कार्य नहीं करना पड़ता। सभी वृक्ष फल-फूल से युक्त हैं। मेघ, प्रजाजन की इच्छानुसार वृष्टि करते हैं। हवा का स्पर्श भी सदैव सुखदाई रहता है। सारी प्रजा धर्म-परायण है। कोई झूठ नहीं बोलता। सभी लोग उत्तम लक्षणों से युक्त हैं। लोग एक सहस्त्र वर्ष तक जीवित रहते हैं, सहस्त्रों पुत्रों को जन्म देते हैं। उन्हें कोई रोग-शोक होता ही नहीं (वाल्मीकीय रामायण-युद्ध कांड-सर्ग १२८)।

इसी का अनुसरण अध्यात्म रामायण, रामचरित मानस तथा रामचन्द्रिका आदि अनेक ग्रन्थों में है। रामचरित मानस में, राम-राज्य के साथ अयोध्या नगरी का वर्णन भी किंचित विस्तार से किया गया है। अध्यात्म रामायण में राम के द्वारा स्थान-स्थान पर शिवलिङ्गों की स्थापना का विशेष उल्लेख है। (उत्तर०-२७)। राम ने ग्यारह हजार वर्षों तक शासन किया। इस काल में उन्होंने पुण्डरीक, अश्वमेघ तथा राजसूय आदि यज्ञ करके प्रतिष्ठा अर्जित की (वाल्मीकीय रा०- युद्धकांड-१२८.९४-९५)।

रामचरित मानस में राम-राज्य के वर्णन के अनन्तर ही, कलियुग की स्थिति का वर्णन है। इस प्रकार, आदर्श और यथार्थ को गोस्वामी जी ने आमने-सामने लाकर, जन-समाज को राम-राज्य से प्रेरणा ग्रहण करने की शिक्षा दी है। कुछ उदाहरण निम्न है—

— 'वरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद-पथ लोग'—(राम-राज्य)

'वरन धरम नहि आश्रम चारी। स्रुति विरोध रत सब नर-नारी'—(कलियुग)

— 'सब गुणज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी'—(राम-राज्य)

'द्विज स्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहि मान निगम अनुसासन'—(कलियुग)

— 'सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी'—(राम-राज्य)

'सोइ सयान जोइ परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी'—(कलियुग)

— 'एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी'—(राम-राज्य)

'नारि विवश नर सकल गोसाईं। नार्चहि नट मर्कट की नाईं'—(कलियुग)

* * * *

राम-राज्य की तीसरी विशेषता है—उसका जनाधार। यह जनाधार इतना प्रबल है कि राम, अपनी प्रजा के लिए कुछ भी कर सकते हैं। वे अपने हृदय से यह मानते हुए भी कि सीता सर्वथा निर्दोष हैं ('अन्तरात्मा च ये वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम्' उत्तरकांड-४५.१०) वे लोकापवाद के भय से, सीता का परित्याग कर देते हैं। वे कहते हैं—मैं लोक-निन्दा के भय से अपने प्राणों को अपने सब भाईयों को त्याग सकता हूँ तो सीता को त्याग देना कौन बड़ी बात है—

अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभा:
अपवाद भयाद् भीत: किं पुनर्जनकात्मजाम्।
(उत्तरकांड-४५.१४-१५)

इस सम्बन्ध में, राम और सीता के आपसी प्रेम-सम्बन्धों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि राम ने अपनी समर्पिता पत्नी के साथ न्याय नहीं किया। प्रारम्भ में जो सीता, अपने अधिकारों के प्रति जितनी सचेष्ट और प्रगल्भ दिखाई देती है, सीता हरण के बाद से अन्तिम, अपने वनवास तक, वे अपने पति राम की महानता के सम्मुख उतनी ही दयनीय दिखने लगती हैं। पति द्वारा बार-बार अपमानित होकर, वे अन्दर ही अन्दर दु:खी और संतप्त रहकर भी, विरोध के स्वर को ऊँचा नहीं होने देतीं। अयोध्याकांड के वन-गमन के प्रसङ्ग में, राम उन्हें अयोध्या में रहकर, अपनी माताओं और विशेषतया भरत को हर प्रकार से प्रसन्न रखने की शिक्षा देते हैं। सीता, अपने को भरत के संरक्षण में देने का विरोध करते हुए कहती हैं—क्या मेरे पिता ने कभी यह समझा था कि आप केवल शरीर से पुरुष हैं, अपने कार्य-कलाप से तो आप स्त्री हैं—

किं त्वामन्यत: वैदेह: पिता में मिथिलाधिप:
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुष विग्रहम्। (अयोध्या कांड-३०.३)

वे राम को और भी लांछित करती हैं कि आप तो स्त्रियों की कमाई खाने वाले नटों की तरह हैं जो अपनी स्त्रियों को दूसरों को दे देते हैं—

स्वयं तु भार्या कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम्
शैलूष इव मा राम परेभ्यो दातुमिच्छसि। (वही-३०.८)

राम भी, सीता को कितना चाहते हैं इसका पता उस समय चलता है जब सीताहरण के पश्चात् उनके वियोग में, दु:ख-कातर होकर यह कहते हैं कि 'यदि सीता मुझे उसी रूप में वापस नहीं मिलीं जिस रूप में उन्हें मैं छोड़ गया था तो मैं समस्त प्राणियों सहित सृष्टि को ही नष्ट कर दूँगा और सीता के न मिलने तक अपने वाणों से संसार को जलाता रहूँगा।

नाशयामि जगत् सर्वे त्र्यलोक्यं सचराचरम्
यावत् दर्शनमस्यावै तापयामि च सायकैः । (अरण्य कांड-६५-७१)

लंका-विजय के पश्चात्, सीता के प्रति, राम की दृष्टि बदल जाती है । वे एक सामान्य व्यक्ति की तरह, सीता के चरित्र के प्रति शंकालु हो उठते हैं । इतनी लम्बी अवधि के वियोग के बाद, मिलनातुर सीता को, स्वीकार न करके, उन्हें सार्वजनिक रूप से लांछित और अपमानित करते हैं । वे यहाँ तक कह जाते हैं कि मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ । तुम विभीषण, सुग्रीव अथवा शत्रुघ्न किसी के साथ रह सकती हो । स्वेच्छा से कहीं भी जा सकती हो । तुम्हारी जैसी, दिव्य सौन्दर्य से सुशोभित स्त्री को, अपने घर ले जाकर, रावण चिरकाल तक तुम से दूर रहने का कष्ट न सह सका होगा—

नहि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां मनोहराम्
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे पर्यवस्थिताम् । (युद्ध कांड-११५.२४)

लज्जा और दुःख से जमीन में गड़ी हुई-सी सीता, उस पूरे समूह के सामने, राम से निवेदन करती हैं कि आप मुझे, सामान्य नारियों के आचरण को दृष्टि में रखकर, लांछित कर रहे हैं । यदि मुझे त्याग देने की ही बात थी तो हनुमान जी द्वारा आपका यह निर्णय भी सुनाया जा सकता था ।इस निर्णय को सुनते ही मै आत्महत्या कर लेती । इस प्रकार अपने जीवन को संकट में डालकर, आपने मेरे लिए इतना भयंकर युद्ध क्यों किया ? (वही० ११६.११) । राम के तिरस्कार और अवहेलना से त्रस्त होकर, अन्ततः सीता को अग्नि में प्रवेश कर, अपने को निष्पाप सिद्ध करना पड़ा ।

राम ने यह सब, अपने मित्रों एवं सहायकों तथा आश्रितों के समक्ष, सीता को सर्वथा पवित्र सिद्ध करने के लिए किया ? अथवा वे लोक-भीरु थे, लोकापवाद का सामना नहीं कर सकते थे ? क्या इसी प्रकार की कोई परीक्षा, लोकापवाद से बचने के लिए अयोध्या में नहीं ली जा सकती थी ? संभवतः सीता जी दूसरी बार इसके लिए तैयार न होतीं और राम भी इसे दोहराना नहीं चाहते थे । राम का सीता के प्रति यह अनौचित्य पूर्ण आचरण, किसी भी स्थिति में प्रशसंनीय नहीं कहा जा सकता । वास्तव में राम, अपनी लोकप्रियता को एक राजनेता की भाँति ही चाहते थे । प्रजा में प्रचलित प्रवाद का सामना वे नहीं कर सकते थे ।

राम-राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था, वर्णाश्रम धर्म, सामाजिक मर्यादाएँ एवं स्त्रियों एवं शूद्रों के नियंत्रित अधिकारों के बावजूद, प्रजा के हित को ही सर्वोपरि मानती है । राम, जनता के सच्चे प्रतिनिधि ही नहीं, जनता के लिए अपने को समर्पित कर देने वाले महान व्यक्ति हैं । झूठे लोकापवाद के निराकरण के लिए, राम जैसा व्यक्ति ही अपनी अनुरक्ता पत्नी का त्याग कर सकता है ।

●

राम और सीता के दाम्पत्य की सम और विषम स्थितियाँ

दाम्पत्य की अनेक अन्तर्ध्वनियाँ हैं जिनमें कुछ, उन महान व्यक्तियों के दाम्पत्य को अधिक प्रभावित करती हैं जिनके जीवन के सभी राग, लोक समाज के द्रुत-विलम्बित स्वरों से जुड़े हुए होते हैं। राम और सीता के दाम्पत्य को भी जिन अन्तर्ध्वनियों ने सबसे अधिक प्रभावित किया है उनमें, राम का लोक-हित का संकल्प और लोक-भय अथवा लोकापवाद से मुक्ति, दोनों प्रमुख हैं। राम के लोक-हित के कार्यों की तालिका बहुत लम्बी है और इसमें कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो विवादास्पद हो सकते हैं। विन्ध्य पर्वत के दक्षिण की अनेक वनवासी जातियों को आर्य-धर्म में दीक्षित करना या सुदूर लंका में रावण की राक्षस-संस्कृति के स्थान पर, आर्य-संस्कृति का प्रचार-प्रसार, उनके राजनीतिक कार्य हैं। यहाँ उन कार्यों की ओर इंगित करना अभीष्ट होगा जिन कार्यों से उनके स्त्री-विषयक दृष्टिकोण का पता चलता है। राम ने, स्त्री की मर्यादा को ध्यान में रखकर, राजाओं के परम्परागत बहुपत्नित्व के विकल्प को अस्वीकार कर, एक आदर्श पति के रूप में, 'एकपत्नी व्रत' को अंगीकृत किया। अपनी विमाता के अन्तःपुरीय षडयंत्र के विपरीत, उनकी आज्ञा के अनुकूल, स्वेच्छा से चौदह वर्षों के वनवास को सहर्ष स्वीकार किया। अन्त्यवर्ण की शबरी के जूठे बेर खाकर, जाति-पाँति के ऊपर, स्नेह और आत्मीयता को वरीयता दी। गौतम-पत्नी अहल्या को, उसके दुराचार के पाप से, मुक्त किया। इसके विपरीत, ताड़का का वध, शूर्पणखा को कुरूप बनाना, उनके विवादास्पद कार्य हो सकते हैं। वालि का छिपकर वध करना तथा शम्बूक की हत्या भी उनके प्रशंसनीय कार्य नहीं हो सकते। फिलहाल, राम ने ऋषियों की अनुवर्तिता में, वर्णाश्रम धर्म और उसकी मर्यादा की रक्षा, दृढ़प्रतिज्ञ होकर की और 'मर्यादा पुरुषोत्तम' की संज्ञा धारण की।

दूसरी ओर, अपनी लोक-छवि को सर्वथा निष्कलंक रखने के लिए, अपनी अनुगामिनी तथा निष्पाप पत्नी सीता की, जन-समुदाय के सम्मुख दो बार,

आचरण-शुचिता की परीक्षा ली और दूसरी बार के अपमान से, अत्यन्त आहत होकर सीता ने माता धरती की गोद में शरण ली। वे हमेशा के लिए, राम को छोड़कर चली गईं। वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड में, सीता के परित्याग का प्रश्न उपस्थित होने पर, राम अपने भाईयों से कहते हैं कि मैं लोकनिन्दा के भय से स्वयं अपने प्राणों को तथा तुम सब भाईयों को भी त्याग सकता हूँ, सीता को त्याग देना कौन बड़ी बात है—

> अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभा:,
> अपवाद भयाद् भीत: किं पुनर्जनकात्मजाम्। (४५.१४)

राम, आज से हजारों वर्ष पहले के समाज के अग्रणी पुरुष थे। यद्यपि आज की दुनिया, पहले की अपेक्षा बहुत भिन्न है और मनुष्य का जीवन, अत्यन्त संश्लिष्ट और दुरूह बन गया है फिर भी, दाम्पत्य की पारम्परिकता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। न स्त्री ने इस दाम्पत्य के ढाँचे को तोड़ने की कोशिश की और न पुरुष ने।भारत के पितृप्रधान समाज में प्रारम्भ से ही 'पत्नी धर्म', 'पति-धर्म' से अलग समझा गया। स्त्री, 'सहधर्मिणी' होते हुए भी, 'सह-अस्तित्व' से पृथक् मानी गई। यौन-शुचिता का सारा मापदंड स्त्री को केन्द्रित करके ही विकसित हुआ और अंतत:, यह घोषणा की गई कि दुष्ट प्रकृति का, दुराचारी तथा निर्धन पति भी आर्य स्त्रियों के लिए सर्वश्रेष्ठ देवता ही होता है—

> दु:शील कामवृत्तो का धनैर्वा परिवर्जित:
> स्त्रीणामार्य स्वभावानां परमं दैवतं पति:।
> (वाल्मीकीय रा०, २:११७-२४)

इसके विपरीत, पुरुष के लिए यौन-शुचिता का कोई अर्थ नहीं है। पुरुष द्वारा निर्धारित सामाजिक व्यवस्था में पुरुष के लिए बहु-पत्नित्व का विधान, बहुत पहले से है।

राम और सीता का दाम्पत्य भी, स्त्री और पुरुष की इन विभाजक रेखाओं से बँटा हुआ है। वाल्मीकीय रामायण के बाद, राम-कथा के उन ग्रन्थों में, जहाँ राम को विष्णु के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया गया है, राम और सीता के सम्बन्धों के कई आध्यात्मिक अभिप्राय भी प्रगट हुए हैं। 'अध्यात्म रामायण' में सीता, हनुमान का प्रबोध करते हुए कहती हैं कि राम साक्षात् अद्वितीय सच्चिदानंद परब्रह्म हैं और वे स्वयं संसार की उत्पत्ति, स्थिति और अंत करने वाली मूल प्रकृति हैं (बाल० १-३२.३४)। 'रामचरित मानस' में राम और सीता ('गिरा अरथ जल-बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न') वाणी और उसके अर्थ के समान भिन्न कहे जाने पर भी, अभिन्न हैं। इसी प्रकार के अन्य आध्यात्मिक अभिप्राय भी हो सकते हैं। अत: राम और सीता के दाम्पत्य का, यह लोकोत्तर पक्ष, उसे लौकिक दाम्पत्य से

पृथक् कर देता है । सम्प्रति, इन आध्यात्मिक व्याख्याओं की अपेक्षा हम राम और सीता के उस पारिवारिक जीवन को देखने का प्रयत्न करें जो वाल्मीकीय रामायण में आदर्श हिन्दू परिवार के रूप में प्रतिष्ठित है और सामान्य जन-जीवन की भाँति सुख-दु:ख से प्रभावित भी होता है । यह पारिवारिक आदर्श, विशेषतया पति-पत्नी के सम्बन्धों के संदर्भ में, आज की अपेक्षाओं के कितना अनुकूल है और वर्तमान संघर्षशील स्त्री और पुरुष को, किन सीमा-रेखाओं में प्रतिबद्ध करता है, इसको भी सोचना होगा ?

* * * *

इस बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से, पारम्परिकता को तोड़ने वाली, दाम्पत्य की कुछ ऐसी विधाएँ सामने आने लगी हैं जिनका मनोविज्ञान नया है । इनमें सामाजिक अनुबन्ध, परस्पर स्वीकृति, साहचर्य अथवा सहनिवास (लिविंग टु-गेदर), बौद्धिक मैत्री तथा अन्य दूसरे रूप सम्मिलित हैं । सुखद बात यह है कि यह सब पाश्चात्य देशों, विशेषतया अमेरिका में तथा अपने देश के अत्याधुनिक धनाढ्य वर्ग के कुछ व्यक्तियों अथवा समूहों तक ही सीमित है । भारत के बहुसंख्यक समाज में आज भी राम और सीता का दाम्पत्य, आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सामाजिक चेतना का प्रेरणा-स्रोत बना हुआ है ।

स्त्री और पुरुष के परस्पर आकर्षण-विकर्षण, स्वीकृति-अस्वीकृति तथा उनके दाम्पत्य के विधि-विधान का नियंत्रण समाज के हाथ में होता है क्योंकि उन्हें समाज में ही रहना है । भारत में यह सब धर्म के नियंत्रण में है । अत:, यह मात्र लौकिक ही नहीं वरन् पारलौकिक जीवन को भी निर्धारित करता है । भारत में यह पारम्परिक है और इसकी पारम्परिकता को भंग करना अत्यन्त कठिन है । कहते हैं, सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैंड और फ्रांस में, दाम्पत्य के नये प्रयोग दिखाई पड़े । इन प्रयोगों में, पत्नी की यौन-शुचिता पर ध्यान देना तथा उस पर अनुशासन रखना उच्च वर्ग में संस्कार-हीनता मानी जाने लगी । पति पर पूर्ण निष्ठा के बावजूद, पत्नी अपने यौन-सम्बन्धों में स्वतंत्र रह सकती थी । कांग्रीव के नाटक 'द वे ऑफ द वर्ल्ड' में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में, पुरानी परम्पराओं के प्रति विद्रोह का भाव दिखाई पड़ता है जहाँ पत्नी, पुराने सम्बोधनों और अपने ऊपर लगाए जाने वाले प्रतिबन्धों का विरोध करती है । इब्सन के 'डाल्स हाउस' की नोरा, पति की रुग्णता में, दूसरे घर में परिचारिका का काम करके, घर का प्रबन्ध और पति का उपचार करती है और पति से यह बात छिपाती है किन्तु, जब पति उसके चरित्र पर संदेह करता है तब, वह उसे बरदाश्त नहीं कर पाती और अपना स्वतंत्र-जीवन जीने के लिए पति से अलग हो जाती है । बर्नार्ड शॉ के 'कैन्डिडा'

के सामने भी पति और नव उम्र प्रेमी के बीच चुनाव का द्वन्द्व उपस्थित होता है और अन्ततः वह अपने पति का ही चुनाव करती है। इब्सन और शॉ की स्त्रियाँ नैतिक व्यवस्था के प्रति संघर्ष करती हैं। इस बीसवीं शताब्दी में दाम्पत्य को लेकर अनेक प्रश्न उठाए गए और यौन-सम्बन्ध, अंतरंगता तथा आत्मीयता को विभिन्न दृष्टियों से देखा गया। सार्त्र की 'इन्टीमिसी' की नायिका लुलु, यौन-दृष्टि से अपंग अपने पति को छोड़कर, अपने युवा मित्र के यहाँ जाती है परन्तु शीघ्र ही काम-सुख उसे लिजलिजा, कुत्सित और यांत्रिक क्रिया जैसा लगता है।

* * * *

राम और सीता का आदर्श, इतना ऊँचा है कि उन्हें आज के यथार्थ की इन अंधेरी घाटियों में नहीं उतारा जा सकता। उनका चरित्र वह प्रस्थान-बिन्दु है जहाँ से मानव, ईश्वर की ओर ऊर्ध्वगमन करता है। सीता, इस बीसवीं शती की जागरूक स्त्रियों की बदलती हुई मानसिकता के बावजूद, प्राचीन परम्परा की ज्योति जलाकर, दाम्पत्य की पारम्परिकता को स्थिर बनाए हुए हैं। वे सामान्यतया सभी नारियों की आदर्श बनी हुई हैं। इसका प्रधान कारण यह भी है कि उनका पतिव्रत धर्म, पुरुष समाज द्वारा बनाई गई सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता और प्रकारान्तर से स्त्री को इतना पराधीन कर देता है कि उसका जीवन यंत्रणाओं की कहानी बनकर रह जाता है। गोस्वामी तुलसी दास ने समस्त नारी समाज के लिए 'कत विधि सृजी नारि जग माँही, पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं' कहकर जिस त्रासदायक स्थिति का अनुभव किया है वह, आज के नारी-समाज का यथार्थ है।

रामायण का ही एक प्रसङ्ग है कि गौतम ऋषि ने दुराचार के मात्र एक अपराध के लिए, अपनी पत्नी अहल्या को पत्थर बना दिया। राम ने अपने चरणों के स्पर्श से, उसे पुनः सशरीर उपस्थित कर दिया। राम ने यह चमत्कार तब किया जब वे अविवाहित थे। सीता के प्रथम दर्शन के समय ही, वे अपने मन को विचलित होते देख यह कहते हैं 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी, जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी'। अर्थात् उनका कौमार्य पूर्णतया निष्कलुष था। जीवन की मृग-मरीचिका और सामाजिक यथार्थ से उनका सामना तब हुआ जब वे विवाहित होकर अयोध्या लौटे। पति द्वारा सताई गई अहल्या पर, अकारण कृपा करने वाले राम, जहाँ तक सीता का प्रश्न है, अपने व्यवहार में परम्परागत ईर्ष्यालु पति ही सिद्ध हुए। एक बार सीता को अपमानित कर उनकी अग्निपरीक्षा लेने के बाद भी उन्हें, अयोध्या की राज्य-सभा में, परित्यक्ता के रूप में भी अपमानित कर, लव-कुश के जन्म के सम्बन्ध में अपनी सच्चरित्रता प्रमाणित करने के लिए कहा गया। इस अपमान से संतप्त होकर सीता ने धरती माता की शरण ली और वे उसमें ही समाहित

हो गईं। रामायण की रचना आज से शताब्दियों पूर्व हुई थी किन्तु, तब से आज तक इस देश का हर पुरुष, राम के आदर्शों का अनुसरण भले ही न करे परन्तु स्त्री के प्रति राम की ही भाँति कठोर, असंवेदनशील और शंकालु बना हुआ है। अहल्या और सीता का मिथक, उस समाज की कहानी दोहरा रहा है जहाँ स्त्रियाँ या तो जड़ प्रस्तर-खंड बन गई हैं या अपमानित होकर आत्म-विसर्जन कर रही हैं।

प्राचीन ऋषियों का दृष्टिकोण स्त्रियों और शूद्रों को समान स्तर पर रखना चाहता है। ऋषियों के विचारों के अनुगामी राम ने यदि अपनी सीता जैसी सुन्दर और साध्वी पत्नी को न्याय नहीं दिया तो अन्य स्त्रियों के साथ न्याय कैसे कर सकते थे ? अगस्त्य ऋषि के शाप से, यक्षिणी से राक्षसी बनी ताटका (ताड़का), यक्षजातीय सुकेतु की पुत्री तथा जम्भ पुत्र सुन्द की पत्नी थी। अगस्त्य ने उसके शक्तिशाली पुत्र मारीच को यक्ष से राक्षस बना दिया। पुनः, उसके विरोध करने पर, उसके पति सुन्द का वध कर उसे विधवा बनाया। ऐसी स्थिति में, यदि ताटका ऋषियों के विरोध में उठ खड़ी होती है तो यह उसके लिए अत्यन्त स्वाभाविक है। राम ने, विश्वामित्र के कहने से उसका वध किया और उसके पुत्र मारीच को, अपने प्रहारों से वहाँ से दूर भाग जाने को विवश कर दिया। घोषित यह किया गया कि ताटका कुटिल नारी थी। इसी प्रकार रावण की बहन शूर्पणखा, जो विद्युज्जिह्व की पत्नी थी, राम को देखकर उन पर आसक्त हो उठी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि राम के इशारे पर लक्ष्मण ने उसे नासा-कर्ण विहीन कर कुरूप बना दिया। आर्य-धर्म में, स्त्री की यह स्वच्छन्दता अक्षम्य है किन्तु राक्षस-कुलों में इस प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे। अन्यथा, विधवा मन्दोदरी, शत्रु-पक्ष का साथ देने वाले विभीषण की पत्नी क्यों बनती। वानर-कुल के सुग्रीव ने भी अपने भाई वालि की विधवा तारा को अपनी पत्नी बना लिया था। इससे प्रतीत होता है कि राम-कथा की बहुत-सी स्त्रियों को न्याय नहीं मिला। बाद में चलकर, संस्कृति के संक्रमण काल में, अवांछित आचरण वाली कुछ स्त्रियों (यथा—कुन्ती, तारा, मन्दोदरी, अहल्या तथा द्रौपदी) को पंच देवकन्याओं की गरिमा प्रदान की गई।

* * * *

राम और सीता के दाम्पत्य प्रेम के कई आयाम है। उनके विवाह के पूर्व का आकर्षण, प्रेम का प्रथम स्फुरण तो है किन्तु, इसका उत्कर्ष विवाह के बाद ही दिखाई पड़ता है। सामान्यतया प्रेम अर्थात् शृंगार के प्रथम आयाम अर्थात् अयोग शृंगार, नायक और नायिका के पूर्वानुराग के रूप में आता है। परस्पर आकर्षण और सहभाव के चिन्तन का यह पहला दौर है। 'वाल्मीकीय रामायण' में राम

और सीता के प्रथम दर्शन का कोई प्रसङ्ग नहीं है। भवभूति के 'महावीर चरित' के प्रथम अंक में विश्वामित्र के आश्रम में ही, राम और लक्ष्मण, विदेहराज की कन्याओं अर्थात् सीता और उर्मिला को देखकर, उन पर आसक्त हो जाते हैं। जयदेव के 'प्रसन्नराघव' के दूसरे अंक में प्रथम दर्शन के समय राम और सीता आम्र वृक्ष और वासंती लता के संयोग के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं। 'हनुमन्नाटक' में राम-कथा धनुर्भङ्ग के प्रसङ्ग से ही प्रारम्भ होती है। 'राम चरित मानस' में राम और सीता के प्रथम दर्शन का यह प्रसङ्ग इस प्रकार वर्णित है कि इसमें अयोग शृंगार की दस अवस्थाओं (यथा-अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, संज्वर, जड़ता तथा मरण) में कई अवस्थाएँ साकार हो उठती हैं। इसमें राम और सीता, एक-दूसरे को देखकर, परस्पर एक-दूसरे के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर दाम्पत्य-बंधन में बँधने का निर्णय लेते हैं। इसके विपरीत, वाल्मीकीय रामायण में प्रेम और आकर्षण के इस प्रसङ्ग की चर्चा न करके राम के शक्ति-प्रदर्शन को विशेष महत्व दिया गया है। शिव के जिस धनुष को, लोहे की आठ पहियों वाली पेटिका सहित पाँच हजार मनस्वी वीर किसी तरह खींच कर लाते हैं, राम उस धनुष को, बीच से पकड़ कर लीलापूर्वक, उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसे तोड़ डालते हैं। (वाल्मीकीय रामायण—१.६७.३-४)।

राम और सीता के विवाहोत्सव का लोकसम्मत आयोजन और लोक रीति का अनुपालन 'रामचरित मानस' में ही मिलता है जहाँ अनेक हृदय द्रावक एवं आह्लादकारी प्रसङ्ग हैं। विवाहोपरान्त राम और सीता के प्रणय और संयोग का जैसा वर्णन 'हनुमन्नाटक' में है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। यह वर्णन कहीं-कहीं अश्लील सा प्रतीत होता है। इसके दूसरे अंक का नाम ही 'जानकी विलास' है।

अयोध्या में रहते हुए, सीता को दशरथ के अन्तःपुर की उस कूटनीति का पता चल गया था जिसका उल्लेख कोशल्या, अनन्त कातर होकर, राम से उस समय करती हैं जब वे वन जाने के पूर्व, उनकी आज्ञा और आर्शीवाद प्राप्त करने, उनके पास आते हैं। इसीलिए, राम के इस आदेश पर, कि तुम अयोध्या में ही रहकर माताओं की सेवा करो और भरत को हर प्रकार से प्रसन्न रखो क्योंकि वे ही अयोध्या के राजा हैं—सीता का उत्तर, इस प्रकार है—

यस्य पथ्यंचरामात्थ यस्यचार्थेऽवरुध्यसे
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ।

(वाल्मीकीय रामा० २.३०.९)

'हे निष्पाप रघुनन्दन, आप मुझे किसके अनुकूल चलने की शिक्षा दे रहे हैं ? उस भरत के लिए, जिसके लिए आपका राज्याभिषेक रोक दिया गया। उस भरत के वशवर्ती और आज्ञापालक बनकर आप ही रहिए, मैं नहीं रहूँगी।'

'अध्यात्म रामायण' में राम, जब सीता से यह कहते हैं कि पिता दशरथ ने उन्हें वनवास दिया है तो सीता दु:खी नहीं होती बल्कि प्रीतिपूर्वक कहती हैं कि मैं पहले वन जाऊँगी उसके पीछे आप आइएगा– 'अहमग्रे गमिष्यामि वनं पश्चात्त्वमेष्यति (अयो०-६३)।' इसके विपरीत, वाल्मीकीय रामायण की सीता उग्र स्वभाव की है। उनकी उग्रता के दर्शन वनवास-प्रसङ्ग में ही होते हैं। राम, जब बार-बार उनसे अयोध्या में रहने का आग्रह करते हैं और उन्हें वन में साथ ले जाने से इनकार करते हैं तब वे कहती है–श्री राम, क्या मेरे पिता मिथिला नरेश विदेहराज जनक ने आपको जामाता के रूप में पाकर कभी यह समझा था कि आप केवल शरीर से ही पुरुष हैं, कार्य-कलापों से तो स्त्री ही हैं–

किं त्वामन्यत वैदेह: पिता मे मिथिलाधिप:
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्। (२.३०.३)

इसके साथ वे यह भी कहती हैं कि यदि आप मुझे छोड़कर जाएंगे तो लोग समझेंगे कि सूर्य के समान तपने वाले राम में पराक्रम का अभाव है (२.३०.४)। श्री राम, जिसका कुमारावस्था में आपके साथ विवाह हुआ है और जो चिरकाल तक आपके साथ रह चुकी है उसी, अपनी सती-साध्वी पत्नी को आप, औरतों की कमाई खाने वाले नट की भांति, दूसरों को सौंपना चाहते हैं–

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम्
शैलूष इव मा राम परेभ्यो दातुमिच्छसि। (२.३०.८)

'रामचरित मानस' में सीता, पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों की परस्पर संलग्नता की व्याख्या इस प्रकार करती हैं–

जिय बिनु देह नदी बिनु नारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद विमल विधु बदन निहारे।

साथ रहने से पारस्परिक प्रेम-भाव में वृद्धि होती है। 'रामचरित मानस' तथा 'कवितावली' में गोस्वामी तुलसीदास ने, वनवास के लिए प्रस्थान करते हुए राम और सीता के अंतरंग क्षणों की अनेक भंगिमाओं को उजागर किया है। ग्रामीण स्त्रियों के इस प्रश्न पर कि 'कोटि मनोज जलावनि हारे, सुमुखि कहउ को अहहिं तुम्हारे' सीता लज्जामिश्रित शालीनता के साथ जो संकेत करती हैं वह एक समर्पिता पत्नी और कुलवधू के लिए उपयुक्त उत्तर है–

सीय बदन-विधु आंचर ढांकी। पिय तन चितइ भौंह करि बांकी।

खंजन मंजु तिरीछे नयनहि। निज पति कहा तिनहि सिय सैनहि।

दूसरी ओर राम, एक समर्पित पति की भाँति सीता के मार्ग श्रम को जानकर, देर तक उनके पैरों में चुभे हुए काँटे निकालते हैं और राम के इस प्रेम पर सीता की आँखे भर आती हैं। इसी प्रकार, सीता भोलेपन के साथ जब यह पूछती हैं

कि अभी कितनी दूर चलना है, पर्णकुटी कहाँ बनाएँगे ? तो राम की आँखें भी अश्रुपूरित हो उठती हैं।

* * * *

सीता हरण के पश्चात् राम की स्थिति विक्षिप्तों जैसी हो जाती है। वाल्मीकीय रामायण के अरण्यकांड के ५७वें सर्ग से लेकर ६४वें सर्ग तक, राम की इस आन्तरिक व्यथा, उनके प्रलाप और आक्रोश का वर्णन है। राम, अत्यन्त उग्र रूप धारणकर, समस्त सृष्टि को ही नष्ट कर देने पर उद्यत से दिखते हैं (३.६४.६०-६१)। 'हनुमन्नाटक' तथा 'रामचरित मानस' के राम, इस उग्रता को धारण न कर, आकुल प्रेमी की ही भाँति आचरण करते हैं।

ऐसे राम जो सीता के प्रति इतने समर्पित हैं कि उनके न रहने पर विक्षिप्त से हो उठते हैं लंका-विजय के पश्चात्, सीता के चरित्र पर, लोगों के संदेह की आशंका मात्र से, उनका वही परम्परागत पुरुष रूप दिखाई पड़ता है जिसका ध्यान हमेशा स्त्री की यौन-शुचिता पर ही केन्द्रित रहता है। राम के विजयी होने से जहाँ सीता इतनी उत्सुक और बेचैन हैं कि शीघ्र ही उसी स्थिति में, जिसमें वे हैं, राम से मिलना चाहती हैं। राम, विभीषण द्वारा आदेश देते हैं कि सीता स्नान आदि द्वारा पवित्र होकर यहाँ आएँ। पुन: उन्हें शिविका में आते देख वे दूसरा आदेश देते हैं कि पैदल, शिरोवस्त्र को हटाकर आवें जिससे उनके सहयोगी बन्दर, भालु, राक्षस आदि उन्हें ठीक से देख सकें। सीता, जब राम के पास पहुँचती है तो वे सीता को अपराधिनी की भाँति, तिरस्कृत करते हैं। लज्जाशीला सीता सिर झुकाए खड़ी हैं। सीता, राक्षस के यहाँ से आई हैं यह सोचकर राम एकसाथ रोष, हर्ष तथा दु:ख का अनुभव करते हैं। राम, सीता के चरित्र पर शंका करके उन्हें इस तरह अपमानित करते हैं कि ऐसी स्थिति में कोई भी स्वाभिमानी स्त्री बहिष्कार या आत्महत्या के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकती। वे कहते हैं—

नहि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां मनोहराम्।
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे पर्यवास्थिताम्।
(वाल्मीकीय रामा० ६-११५.२४)

तुम्हारी जैसी दिव्यरूपा आकर्षक युवती को अपने घर में स्थित पाकर, रावण अधिक समय तक तुमसे दूर न रह सका होगा।

राम, सीता को स्वीकार करने में असमर्थता प्रगट करते हैं। वे कहते हैं कि तुम अपनी इच्छानुसार कहीं भी जा सकती हो। शत्रुघ्न, सुग्रीव या विभीषण के पास भी रह सकती हो (११५.२३)। इस प्रकार की बातें सुनकर सीता अवाक् रह गईं। उस पूरे समाज के सामने अपने को अपमानित पाकर उन्होंने कहा कि आप नीच स्त्रियों के चरित्र को ध्यान में रखकर मुझ पर लांछन लगा रहे हैं

(पृथक्स्त्रीणां प्रचारेण जातित्वं परिशङ्कसे (११६.७) । मुझे त्याग देने की बात तो आप हनुमान जी के द्वारा भी कह सकते थे । मैं उसी समय अपने प्राणों का परित्याग कर देती (११६.१२-१३) । सीता के इस अपमान से लक्ष्मण जी भी क्रोधित हो उठे । फिर भी, राम की आज्ञा से उन्हें सीता के अग्नि-प्रवेश के लिए चिता तैयार करनी पड़ी ।

यह प्रकरण, उन रामायणों में जहाँ राम ईश्वर के अवतार के रूपमें प्रतिष्ठित हैं, अत्यन्त संक्षिप्त रूप में है । यहाँ राम का आचरण अत्यन्त सौम्य और उनकी मर्यादा के अनुकूल है । 'अध्यात्म रामायण' में 'अवाच्य वादान्बहुशः प्राकृतां रघुनन्दनः' (युद्धकांड-१२.७६) तथा 'रामचरित मानस' में अग्नि में रखी गई सीता को प्रगट करने के लिए राम द्वारा सीता को दुर्वाद 'तेहि करण करुनानिधि, कहे कछुक दुर्बाद' कहने का संकेत मात्र है । अध्यात्म रामायण आदि में सीता हरण के पूर्व, सीता को अग्नि को सौंपने और उनके स्थान पर छाया सीता को साथ रखने का प्रसङ्ग है ।

* * * *

राम और सीता के दाम्पत्य का दुःखद पक्ष ही अधिक प्रबल है । युद्ध कांड की अग्नि परीक्षा के बाद, राम यह स्वीकार करते हैं कि मेरी अन्तरात्मा यशस्विनी सीता को सब प्रकार से पवित्र मानती है 'अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम' (उत्तर० ४५-११) । किन्तु लोकोपवाद से उनका हृदय अत्यन्त पीड़ित है (वही-४५-११-१२) ।

सीता का परित्याग, वन-दर्शन के बहाने राम इस प्रकार करते हैं कि सीता को इसकी वास्तविकता का पता न चले । वन में लक्ष्मण सीता से उनके परित्याग की बात बताकर आँखों में आँसू भरकर उनसे क्षमा याचना करते हैं । इस प्रवंचना से आहत सीता अत्यन्त दुःख के साथ कहती हैं—

मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दुःखाय लक्ष्मण:
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दुःखमूर्ति प्रदृश्यते । (उत्तर० ४८.३)

लक्ष्मण, विधाता ने मेरे शरीर को निश्चय ही केवल दुःख भोगने के लिए ही रचा है इसीलिए, आज सम्पूर्ण दुःख मूर्तिमान होकर मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष उपस्थित है ।

श्रीराम को संदेश प्रेषित करती हुई सीता कहती हैं कि हे परमवीर राम, आपने अपनी कीर्ति को, जो मेरे कारण लांछित हो रही है, बचाने के लिए ही मेरा परित्याग किया है । मेरे कारण जो अपवाद फैल रहा है उसे दूर करना मेरा भी कर्त्तव्य है । इसके बाद ही सीता यह भी कहती है कि हे राम, पुरवासियों के साथ आप ठीक

वैसा ही बर्ताव करें जैसा कि अपने भाईयों के साथ करते है। यही आपका परम धर्म है और इसी से आपको उत्तम यश प्राप्त होगा ('यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा। परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात् कीर्तिरनुत्तमा'—४८.१५)।

सीता को भविष्य में पुन: किसी बड़े अनर्थ की आशंका थी। इसीलिए, अयोध्या जाने के लिए उद्यत लक्ष्मण से वे संकोच त्यागकर कहती है कि आज तुम मुझे देख लो इस समय में मैं ऋतुकाल का उल्लंघन कर गर्भवती हो चुकी हूँ (—'निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुकालातिवर्तिनीम्'—४८.१९)।

जिस लक्ष्मण ने सीता के चरणों के अतिरिक्त, उनके शरीर को कभी नहीं देखा था उस समय कैसे देखते ? वे अश्रुपूरित नेत्रों से सीता के सामने धरती पर माथा टेक कर चले गए।

अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर, लव और कुश के गायन से प्रभावित राम को जब यह ज्ञात होता है कि वे दोनों सीता के पुत्र हैं तो राम पुन: सीता की पवित्रता को प्रमाणित करने का उपक्रम करते हैं। वे दूतों को भेजकर महर्षि वाल्मीकि को आमंत्रित कर, भरी सभा में उनसे कहते हैं—

यदि सीता का चरित्र शुद्ध है, यदि उनमें किसी तरह का पाप नहीं हैं तो आप महामुनि की अनुमति से वे यहाँ जन-समुदाय के सामने उपस्थित होकर अपनी शुद्धता को प्रमाणित करें (उत्तर० ९५.४)। उन्होंने आदेश दिया कि सीता यहाँ आकर मेरी सभा में मेरे कलंक को दूर करें (९५.६)। मुनि ने आश्वासन दिया कि राम जो चाहते हैं वह होगा।

* * * *

सुबह होते ही राम यज्ञशाला में आए। अनेक ऋषि-महर्षि, पराक्रमी राक्षस. वानर तथा अनेक देशों से आए अनेक वर्णों के लोग वहाँ उपस्थित थे। सीता के शपथ और प्रमाण को देखने-सुनने के लिए अनेक ज्ञाननिष्ठ, तपोनिष्ठ तथा कर्मनिष्ठ सभी तरह के लोग थे। एक नारी के लिए यह अत्यन्त अपमानजनक और विडम्बनापूर्ण स्थिति थी। सभी लोग प्रस्तर-खंडों की तरह निश्चल देख रहे थे। महर्षि के पीछे सीता सिर झुकाए चली आ रही थीं। उनके दोनों हाथ जुड़े हुए थे और नेत्रों से आँसुओं की वर्षा हो रही थी फिर भी वे राम का ही चिन्तन कर रही थीं।

वाल्मीकि ने भरी सभा में सीता के सर्वथा पवित्र होने का शपथपूर्वक ज्ञापन दिया—मैं प्रचेता का दसवाँ पुत्र हूँ। मेरे मुँह से कभी झूठी बात निकली हो तो उसकी याद मुझे नहीं है। मैं सत्य कहता हूँ कि ये दोनों आपके पुत्र हैं। मैंने मन,

वाणी और क्रिया द्वारा कभी कोई पाप नहीं किया है। यदि सीता निष्पाप हो तभी मुझे अपने पापशून्य पुण्य का फल मिले—

मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्
तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली यदि। (उत्तर० ९६/२१)

राम ने सीता की ओर दृष्टि डालकर, हाथ जोड़कर जन-समुदाय से कहा—एक बार पहले भी सीता की शुद्धता पर मुझे विश्वास हो चुका था और महर्षि जो कह रहे हैं उस पर भी मुझे विश्वास है फिर भी, जन-समुदाय के सम्मुख अपनी शुद्धता प्रमाणित करने के बाद ही मैं सीता को ग्रहण करूँगा।

वे बार-बार यही कहते हैं। गेरुवा वस्त्र धारण किए हुए सीता, सबकी उपस्थिति में अपने सिर को नीचा किए हुए बोलीं—

'यदि मैंने राम के सिवा किसी दूसरे पुरुष का मन से भी चिन्तन नहीं किया हो....यदि मैं मन, वचन और क्रिया द्वारा सदैव राम को ही अपना आराध्य मानती रही हूँ...और मेरी यह बात कि मैं राम के सिवा किसी दूसरे पुरुष को नहीं जानती पूर्णतया सत्य है तो पृथ्वी देवी मुझे अपने अन्दर स्थान दें।' (वाल्मीकीय० उत्तर० ९७.१५-१६-१७)

उनके ऐसा कहते ही धरती से एक अद्भुत सिंहासन प्रगट हुआ जिसे नागों ने दिव्यरूप धारण कर अपने सिरों पर उठा रक्खा था। सिंहासन के साथ ही पृथ्वी देवी भी प्रगट हुई और उन्होंने सीता को अपनी भुजाओं से उठाकर अपनी गोद में बैठा लिया। वे सीता सहित रसातल में प्रवेश कर गईं। अब वहाँ कुछ न था। राम अत्यन्त दु:ख के साथ गूलर के दंड के सहारे उठे और आँसू बहाने लगे। वे धरती से सीता को वापस देने के लिए प्रलाप करने लगे। देवताओं ने उन्हें सांत्वना दी।

राम और सीता के दाम्पत्य का यही पटाक्षेप है और यही अन्त है सीता के दु:खों का भी। यह दु:ख यशस्वी राम की सहधर्मिणी बनने से उन्हें मिला था।

हिन्दू-समाज ही नहीं दुनिया के तथाकथित विकसित देश भी इसी आदर्श के आस-पास घूम रहे हैं। पुरुष समाज में, नारी के चारों ओर, पुरुष का जो आलोक-वलय है वह टूटा नहीं है। करुण-कथा यह है कि यौन-शुचिता, पति परायणता तथा सेवा और त्याग के सभी आदर्श स्त्री के लिए हैं। पुरुष प्रारम्भ से स्वेच्छाचारी रहा है और आज भी है।

कालान्तर में राम और सीता के दाम्पत्य को सर्वथा अनुकरणीय बनाने के लिए अनेक आध्यात्मिक तथा लौकिक रूपक, मिथक तथा अभिप्राय व्यक्त किए

गए जो अलौकिकत्व से मंडित होकर, हमारे धर्म-चिन्तन का एक अंग बन चुका है। राम और सीता का युग्म 'सीताराम' के रूप में जन-जन का कण्ठहार बन गया है। आस्था और विश्वास के मेरुदंड को, यथार्थ की धरती की ओर देखने के लिए झुकाना आसान नहीं है।

●

राम-कथा का अहल्या-प्रसङ्ग–मिथक और रूपकार्थ

राम-कथा के अन्तर्गत, अनेक छोटे-बड़े ऐसे उपाख्यान हैं जिनके सम्बन्ध-सूत्र, वेदों अथवा उनके उपजीव्य ब्राह्मणों-आरण्यकों आदि ग्रन्थों से जुड़े हैं। गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या और देवराज इन्द्र के अनैतिक सम्बन्ध का प्रसङ्ग भी इन्हीं में एक है। 'रामचरित मानस' में इस प्रसङ्ग का उल्लेख अत्यन्त संक्षिप्त है। गोस्वामी तुलसीदास ने, ऐसे अनेक प्रसंङ्गों को, जो बहु-प्रचलित हैं, प्राय: अधूरा ही छोड़ दिया है।

मुनि विश्वामित्र के साथ, मिथिला की ओर प्रस्थान करते समय, राम और लक्ष्मण को मार्ग में एक, पशु-पक्षी तथा जीव-जन्तु विहीन, निर्जन आश्रम दिखाई पड़ा। इस आश्रम के सम्बन्ध में जब राम ने जिज्ञासावश प्रश्न किया तब, विश्वामित्र ने उन्हें इन्द्र और अहल्या के सम्बन्ध की पूरी कथा सुनाई। यह कथा क्या है, इसका उल्लेख रामचरित मानस में नहीं है। कथा पारम्परिक है और वाल्मीकीय रामायण से लेकर पुराणों आदि में है। इसलिए राम-कथा के पाठक से अपेक्षा की जाती है कि वह इसे जानता होगा। इसके बाद ही, विश्वामित्र कहते हैं कि यह जो गौतम की पत्नी अहल्या यहाँ प्रस्तरीभूत शिला के रूप में है, हे राम, तुम्हारे चरण-कमलों की धूल चाहती है। इस पर कृपा कर दो। राम के चरणों का स्पर्श पाकर वह शिला, एक सुन्दर तपस्विनी नारी के रूप में परिवर्तित हो जाती है। वह राम की प्रार्थना करते हुए, बार-बार उनके चरणों का स्पर्श कर, अपने पति ऋषि गौतम के पास चली जाती है।

> यहिं भाँति सिधारी गौतम नारी बार-बार हरि चरन परी,
> जो अति मन भावा सो वर पावा गै पति लोक अनंद भरी।

इस कथा का संकेत बालकांड के राम-सीता विवाह के प्रसङ्ग में भी है जहाँ इन्द्र, गौतम ऋषि के शाप को, इस अभिप्राय में सार्थक समझते हैं कि विवाह का

यह अद्‌भुत दृश्य देखने के लिए उनके शरीर में सहस्त्रों नेत्र हो गए हैं। देवतागण, इन्द्र के इस सौभाग्य के प्रति ईर्ष्यालु हो उठे हैं।

रामहि चितव सुरेस सुजाना, गौतम श्राप परम हित माना।
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं, आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं।

तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना के उपक्रम में, यह कहा है कि वे वही कथा कहने जा रहे हैं जो मूल ग्रन्थ वेद, उनके उपजीव्य ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद और वैदिक मिथकों का विस्तार करने वाले पुराणों द्वारा समर्थित है–'नानापुराणनिगमागम सम्मतं यद्‌....।' अतः, यह देखना चाहिए कि इस 'अहल्या-प्रसङ्ग' का उत्स क्या है ? वह कौन सा स्रोत है जो इस कथा-प्रसङ्ग को जन्म देता है ? साथ ही वे कौन से सूत्र हैं जिनके माध्यम से, वह विकसित होकर, एक दुष्कर्म की कथा के रूप में जीवित रह जाता है ?

* * * *

यह सर्वविदित है कि वेदों की शैली काव्यात्मक है। इसमें मानवीकरण और रूपकत्व विधान में, मिथकीय संस्पर्श है। बिम्ब विधान भी कुछ इस प्रकार का है कि उसके आधार पर भी कालान्तर में अनेक कथाओं का विकास हुआ है। यह ध्यान रखना चाहिए कि वैदिक ऋषियों का ध्यान मात्र प्रकृति की महान शक्तियों तक ही केन्द्रित नहीं रहा है। वे मनुष्य के सभी सम्बन्धों और सरोकारों का जायजा लेते हैं।इस प्रकार उनकी दृष्टि में, मनुष्य के आध्यात्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक रिश्तों के साथ, क्षुद्र जीव-जन्तु (मेढ़क, पिपीलिका आदि) एवं दैनिक उपयोग के विविध उपकरण भी सम्मिलित हैं। वैदिक कवि, जिस आस्था के साथ इन्द्र की स्तुति करता है उसी आस्था के साथ, दर्भ (जंगली घास) को भी आकाश और पृथ्वी की स्थापना का श्रेय देना चाहता है (अथर्ववेद-१९.३२)। उसकी आस्था उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि सभी देवों का व्यक्तित्व, एक दूसरे में समाहित होकर, अनेक में ही एक की, पहचान कराने लगता है। वेदों के देववाद में विरोधी कथन इतने अधिक हैं कि सही अर्थ का निर्णय अत्यन्त कठिन हो गया है। उसी प्रकार की भ्रान्तियों से ऊब कर कौत्स ने यह प्रचार करना शुरू किया था कि 'अनर्थका हि मंत्राः' अर्थात् वेद के मंत्र अनर्थक हैं। यास्क ने कौत्स के मत का खंडन किया है।

वैदिक प्रतीकों में जैसे–'अहल्यायै जारः', 'तारापतिश्चन्द्रमाः' विश्वरूपं जघानेन्द्रः', 'ब्रह्मा स्वर्दुहितुः पतिः' आदि की व्याख्याओं ने अनेक पौराणिक

कथाओं को जन्म दिया है। इनमें प्रथम 'अहल्यायै जार:' इस अहल्या-प्रसंग का उत्तरदायी है।

देवताओं में इन्द्र महान हैं। ऋग्वेद के २५० सूक्तों अर्थात् सम्पूर्ण ऋग्वेद के चतुर्थांश में इन्द्र की महिमा का वर्णन है। आर्यों के प्राय: सभी देवता प्रकाशीय (दिव् धातु) देवता है। पृथिवी स्थानीय 'अग्नि', अंतरिक्ष स्थानीय 'इन्द्र' तथा द्यु (स्वर्ग) स्थानीय सूर्य तीनों का व्यक्तित्व प्राय: एक-दूसरे में इस प्रकार समाहित हो गया है कि द्युस्थानीय द्यौस् (आकाश), वरुण, मित्र, सूर्य, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण उषस् और अश्विन-द्वय आदि सभी प्रकारान्तर से सूर्य के ही विविध रूप हैं। दूसरी ओर रुद्र, मरुद्गण, वायु-वात, पर्जन्य और आप: आदि इन्द्र के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। पृथिवी स्थानीय विविध देवताओं में अग्नि सभी के तेज का वाहक है। वेदों में अनेकों ऐसे स्थल है जहाँ इन्द्र और सूर्य को समान माना गया है (ऋ० १०.८९.२, ८.८२.४, २.३०.१ आदि) इन्द्र, अग्नि के यमज भ्राता हैं (ऋ० ६.५९.२)। इस प्रकार, वैदिक ऋषियों की दृष्टि में, सूर्य ही प्रमुख है जो अनेक देवताओं के तेज को समीकृत करता है।

वैदिक ग्रन्थों में, उसी सूर्य को अहल्या (मैत्रेयी अहल्या) का जार (उपपति) कहा गया है. (शतपथ ब्रा० ३.३.४.१८, जैमिनीय ब्रा० २.९७, षडविंश ब्रा० १.१, तैत्तिरीय ब्रा० १.१२.४)। उसी प्रकार अथर्ववेद (११.२.१७) में, पूर्व दिशा के स्वामी इन्द्र (सूर्य) को सहस्राक्ष कहा गया है (सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्तात्)। इस प्रकार इन्द्र अर्थात् सूर्य को अहल्या का जार (उपपति) और सहस्र नेत्रों वाला माना गया।

केवल इतने से न तो अहल्या की मिथकीय संरचना का रहस्य खुलता है और न रूपकार्थ का विस्तार ही समझ में आता है। अत:, शब्दार्थों का भी आधार ग्रहण करना होगा। यह मिथकीय रहस्य में डूबा हुआ वृत्तान्त है जिसका वास्तविक अर्थ यास्क के 'निरुक्त' और कुमारिल के 'तंत्रवार्तिक' में खुलता है।

१. इन्द्र ही सूर्य हैं—य एष सूर्यस्तपति एष उ एव इन्द्र: (शतपथ ४.५.९.४)। अर्थात् इन्द्र ही सूर्य हैं। इस संदर्भ में 'जार' का अभिप्राय है-रात्रि को जीर्ण कर देने वाला।
२. गोतम या चन्द्रमा—'उत्तम गावो रश्मय: यस्य स: गोतम:' अर्थात् उत्तम रश्मियों से संयुक्त चन्द्रमा ही गोतम है। रश्मियों को सर्वत्र गौ माना गया है—सर्वेऽपि रश्मयो गाव: उच्यन्ते—(निरुक्त-२.२)।
३. चन्द्र की पत्नी रात्रि या अहल्या—'अहर्लीयते यस्मां सा' अर्थात् दिन को अपने में लीन कर लेने वाली या छिपा लेने वाली रात्रि ही अहल्या है।

इस प्रकार इन्द्र और अहल्या का यह प्रसङ्ग; रात और दिन के आगमन और तिरोधान का रूपकर्क मात्र है। चन्द्रमा, रात का स्वामी है यह तथ्य गौतम पत्नी अहल्या के रूप में विकसित हुआ और सूर्य को अपने में लीन करने वाली रात्रि का प्रसङ्ग;

इन्द्र और अहल्या के व्यभिचार-कथा के रूप में विस्तार पा सका। (पं० बलदेव उपाध्याय के 'पुराण-विमर्श' के आधार पर)।

* * * *

इन्द्र और अहल्या का यह प्रसङ्ग जो दिन और रात के परस्पर मिलन का रूपक मात्र है, मिथकीय रूप ग्रहण कर वाल्मीकीय रामायण (बालकांड–अध्याय ४८, ४९) तथा अध्यात्म रामायण (बालकांड-पंचम सर्ग) आदि में विकसित हुआ है। इन कथाओं में किञ्चित भिन्नता भी दिखाई पड़ती है।

वाल्मीकीय रामायण में, अहल्या का आश्रम, 'रामचरित मानस' के उल्लेख के विपरीत मार्ग में नहीं, बल्कि मिथिला में था। मिथिला के उपवन में, एक पुराना आश्रम था जो अत्यन्त रमणीय होकर भी, सुनसान दिखाई देता था। राम के प्रश्न करने पर, विश्वामित्र ने कहा कि यहाँ कभी गौतम ऋषि अपनी पत्नी अहल्या के साथ तपश्चर्या में लीन रहते थे। एक दिन उनकी अनुपस्थिति में, इन्द्रने उन्हीं का वेश धारण कर, अहल्या की स्वीकृति से, उसके साथ रमण किया। वापस जाते समय, ऋषि ने उसे देख लिया। अपने रूप में देखकर गौतम ऋषि ने इन्द्र को पहचान लिया और क्रोधाभिभूत होकर उसे अण्डकोष रहित हो जाने का शाप दे दिया। अपनी पत्नी, अहल्या को सहस्रों वर्ष तक, उसी आश्रम में, अदृश्य रूप से, राख में पड़ी रहकर निराहार तप करने का शाप दिया–

वातभक्ष्या निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी,
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन वसिष्यति।

इन्द्र ने अग्नि आदि देवताओं से यह कहा कि वह तो ऋषि को क्रोध दिलाकर उन्हें तपश्चर्या के प्रभाव से रहित करना चाहता था क्योंकि तपश्चर्या पूर्ण होने पर गौतम ऋषि स्वर्ग का राज्य प्राप्त कर लेते। इस कथन को अनुकूल मानकर, सभी देवताओं की प्रार्थना के अनुसार पितृदेवों ने अपने मेढ़े का अण्डकोष इन्द्र को लगाकर उन्हें पुनः पुंसत्व प्रदान किया (बा० ४९.६)।

वाल्मीकीय रामायण के उल्लेख में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि राम का दर्शन होते ही अहल्या मूर्तिमान हो उठी। उसका रूप दिव्य था, धुएँ से घिरी, प्रज्वलित अग्निशिखा के समान दिखाई देती थी। वह ओले और बादलों से घिरी, दुर्घर्ष चन्द्रप्रभा थी। राम और लक्ष्मण ने अहल्या के चरणों का स्पर्श किया। उसने सबका आतिथ्य सत्कार किया और अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर अपने पति गौतम के पास चली गई।

'अध्यात्म रामायण', ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तरखंड के अन्तर्गत आता है। इसके बालकांड (पंचम अध्याय) में अहल्या का प्रसङ्ग वर्णित है। अहल्या का आश्रम

गंगा के निकट ही था जो, दिव्य पुष्पों और फूलों वाले वृक्षों से परिवेष्टित था—'दिव्य पुष्प फलोपेत पादपैः परिवेष्टितम्' । यह आश्रम पशु-पक्षियों एवं जीव-जन्तुओं से रहित था । राम के प्रश्न करने पर विश्वामित्र ने अहल्या की जो कथा सुनाई वह वाल्मीकीय रामायण के प्रायः अनुकूल है किन्तु, इन्द्र को दिए गए शाप में अन्तर है । गौतम ऋषि ने उन्हें, वाल्मीकीय रामायण की कथा में पुंसत्वहीन हो जाने के विपरीत 'सहस्र भगों वाला' हो जाने का शाप दिया—'योनिलम्पट दुष्टात्मा-सहस्रभगनान्भव' (२६) । अहल्या को, शिलावत् हो जाने का शाप भी वाल्मीकीय रामायण की कथा के विपरीत है—'दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम'(२७) । राम ने अपने चरणों का स्पर्श कराकर अहल्या को देखा और कहा—'मैं राम हूँ ।' राम ने अहल्या को प्रणाम किया उसके बाद, अहल्या के द्वारा राम के ईश्वरत्व की स्तुति है जो उन्हें ओंकार के वाच्य तथा वाणी के अगोचर परम पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित करती है । वे वाच्य वाचक भाव से अर्थात् शब्द और अर्थ के भेद से, स्वयं सम्पूर्ण जगत के रूप में दिखाई पड़ते हैं—

ओंकारवाच्यस्त्वं रामः वाचामविषयः पुमान् ।
वाच्य वाचकभेदेन भवानेव जगन्मयः । (५३) ।

अन्य पुस्तकों में उसी प्रकार यत्किंचित भिन्नता मिलती है ।अतः राम-कथा का अहल्या-प्रसङ्ग एक रूपक का मिथकीकरण मात्र है जो इन्द्र के व्यक्तित्व को, उसकी महानता से अप्रतिष्ठित कर निम्न स्तर पर ले आता है । वैदिक देवता इन्द्र जो अत्यन्त शक्तिशाली देवता माना जाता था, पौराणिक काल तक आते-आते, अपनी गरिमा से वंचित हो गया । उसे अनेक दुर्गुणों के समाहार के रूप में देखा जाने लगा हैं ।

राम-कथा की मंथरा

राम-कथा में बालकाण्ड के बाद, कथा की बागडोर जिन दो नारियों के हाथ में आ जाती है उनमें पहली मंथरा है और दूसरी शूर्पणखा । ये दोनों, अपने आचरण से इस कथा को ऐसे झटके देती हैं कि यह ऊपर उठने के बजाय, जन-जीवन के सामान्य धरातल पर आ जाती है । जन-जीवन में सम और विषम दोनों तत्व होते हैं । इसमें जहाँ एक ओर, प्रेम-त्याग और कर्तव्य-निष्ठा का निर्मल आलोक है वहाँ दूसरी ओर, ईर्ष्या-द्वेष, छल-प्रपंच, अनाचार तथा प्रतिहिंसा की ऐसी धूल भरी आँधी है कि इसमे साँस लेना भी कठिन हो जाता है । मंथरा और शूर्पणखा दोनों जन-जीवन के विषम तत्व हैं । इन दोनों के कारण ही, राम-कथा, केवल राम की कथा न होकर, जन-जीवन की कथा है । इन्हीं दोनों के कारण इस कथा में नाटकीय मोड़ आते हैं, कथा-तंत्र के प्रति आकर्षण पैदा होता है तथा अच्छे-बुरे की वास्तविकता उजागर होती है । इन दोनों नारियों को राम-कथा से खारिज करके देखें, राम-कथा मात्र बालकाण्ड में सिमट जाएगी या दो-एक घटनाओं को छोड़कर, यह कथा, राम का पारिवारिक वृत्तान्त बनकर रह जाएगी ।

मंथरा और शूर्पणखा दोनों के सामाजिक स्तर में काफी अन्तर है । मंथरा के कुल-गोत्र यहाँ तक कि उसके माता-पिता का भी कुछ अता-पता नहीं है । यह भी पता नहीं है कि वह कहाँ की रहने वाली थी । वाल्मीकीय रामायण से बस इतना ज्ञात होता है कि वह कैकेयी के साथ उसके नैहर से आई थी और उसी के साथ रहती थी । इसके विपरीत शूर्पणखा का आभिजात्य सर्वविदित है । वह पुलस्त्य ऋषि की पौत्री, विश्रवा की पुत्री, रावण, कुम्भकर्ण एवं विभीषण जैसे प्रसिद्ध राक्षसों की बहन तथा विद्युतजिह्व की पत्नी थी । मंथरा का प्रवेश अयोध्या कांड में होता है । वह राजा दशरथ की पत्नियों के बीच अन्तःपुर की सीमाओं में ही षडयंत्र रचती है । कैकेयी के प्रति उसकी पूर्ण निष्ठा है लेकिन इसके लिए वह अपने संस्कारों से बाहर नहीं निकल पाती । सभ्य और उदार जनों की उदात्त भावनाओं से वह अपरिचित है या उसका कोई सरोकार नहीं है । दूसरी ओर

शूर्पणखा सुप्रसिद्ध राक्षस कुल की कन्या है। वह विवाहित है फिर भी उसमें चरित्रगत स्वच्छन्दता हैं। वह आर्यों के समाज की, उन-सीमा-रेखाओं से अपरिचित हैं जिनका उल्लंघन करने पर स्त्री को व्यभिचारिणी या 'कुलटा' समझा जाता है। वह राम के प्रति आकर्षित होती है और उन्हें प्रलोभित (सीड्यूस) करने की कोशिश करती है। राम के अस्वीकार करने पर, वह लक्ष्मण को अपने आकर्षण-जाल में फँसाना चाहती है। असफल होने पर, प्रतिहिंसात्मक आचरण करती है और लक्ष्मण द्वारा नासाकर्ण विहीन कर कुरूप बना दी जाती है। स्वच्छन्द आचरण का दंड तो उसे मिला लेकिन इसके कारण प्रतिहिंसात्मक घटनाओं का सिलसिला तब तक चलता रहा जब तक, रावण तथा उसके परिवार का, उसके सहयोगियों का, अन्त नहीं हो गया।

राम-कथा के अधिकांश ग्रन्थों में मंथरा उपस्थित है। उसके बिना, राम-कथा की विभिन्न कड़ियाँ आपस में जुड़ ही नहीं सकतीं। कुछ ग्रन्थों में, राम के प्रति उसकी द्वेष-भावना का कारण भी बताया गया है। इंडोनेशिया की रामायण 'सेरी राम' है। इसके अनुसार, मंथरा राम से इसलिए द्वेष रखती है कि राम ने अपने बाल्यकाल में उसे प्रताड़ित किया था। उसी के प्रपंच से, सीता स्वयंवर के बाद राम को जब यह सूचना मिलती है कि अयोध्या का राज्य भरत को दे दिया गया है तो वे जनकपुर से ही वन चले जाते हैं। तेलगु भाषा की रामायण में मंथरा, राम के विरोध में इसलिए आती है कि राम ने बचपन में उसका एक पैर तोड़ दिया था। इसी प्रकार 'सत्योपाख्यान' तथा 'आनन्द रामायण' में भी, मंथरा के अपने पूर्व जन्म में विष्णु-विरोधी होने का उल्लेख है। 'आनन्द रामायण' में यह भी उल्लेख है कि कृष्णावतार में वह पूतना बनकर जन्म लेगी।

महाभारत के 'रामोपाख्यान' में, मंथरा के सम्बन्ध में कहा गया है कि गन्धर्वी दुंदुभी ही मंथरा के रूप में अवतरित हुई थी। 'पद्म पुराण' तथा उपरोक्त 'आनन्द रामायण' में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। भवभूति के 'महावीर चरित' तथा मुरारि के 'अनर्घ राघव' नाटकों में, मिथिला में स्वयंवर के बाद, शूर्पणखा ही मंथरा के वेश में उपस्थित होकर, कैकेयी का एक जाली पत्र दशरथ को देती है जिसमें उसने अपने दोनों सुरक्षित वरदानों में, एक में भरत के लिए राज्य और दूसरे में, राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास माँगा था। यह जानते ही राम वहीं मिथिला से ही, सीता और लक्ष्मण के साथ वन के लिए प्रस्थान करते हैं।

* * * *

मंथरा कैसी रही होगी, वाल्मीकीय रामायण से इसका कुछ संकेत मिल सकता है। उसकी विदग्धता तथा चातुर्य से प्रभावित, कैकेयी कहती है—'हित

की बात बताने में कुशल कुब्जे तू एक श्रेष्ठ स्त्री है। बुद्धि के द्वारा किसी कार्य का निश्चय करने में तू पृथ्वी की सभी कुब्जाओं में श्रेष्ठतम है (२.९.३८)। तू तो वायु के द्वारा झुकाई गई कमलिनी की भाँति कुछ झुकी हुई होने पर भी देखने में प्रियदर्शना है। ऊँचे वक्षस्थल के नीचे सुन्दर नाभि से युक्त उदर, शान्त और कृश प्रतीत होता है। तेरे जघन विस्तृत एवं दोनों स्तन सुन्दर तथा स्थूल हैं। मंथरे, तेरा मुख निर्मल चन्द्रमा के समान अद्‌भुत शोभा पा रहा है। करधनी से विभूषित तेरी कटि का अग्रभाग बहुत ही स्वच्छ तथा रोमादि से रहित है।--- जब तू रेशमी साड़ी पहन कर मेरे आगे-आगे चलती है तब, तू बहुत शोभनीय लगती है (९.४३-४५)।'

शारीरिक दृष्टि से, मंथरा अपने स्थगु (कूबड़) के कारण भी तिरस्कृत होती थी। कैकेयी उसके कूबड़ की प्रशंसा करती है और कहती है कि इसी में तेरी मति, स्मृति, बुद्धि, राजनीति (क्षत्र-विद्या) तथा अनेक प्रकार की माया (छल-प्रपंच) निवास करती है (९.४७)।

'अध्यात्म रामायण' में, मंथरा कुब्जा और त्रिवक्रा (तीन जगह से टेढ़ी) कही गई है। वाल्मीकीय रामायण में अपने आचरण के लिए वह स्वत: प्रेरित है किन्तु 'अध्यात्म रामायण' में, देवताओं की प्रार्थना पर, उसकी बुद्धि को भ्रष्ट करने का कार्य देवी सरस्वती करती हैं। वे बाद में कैकेयी की बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देती हैं। इस संदर्भ में, 'रामचरित मानस' में, अध्यात्म रामायण का ही अनुकरण है। किन्तु मंथरा की चरित्र-सृष्टि में, उसके विकलाङ्ग वर्गीय चरित्र का, स्वभावत: दुष्ट प्रकृति की होने का विशेष उल्लेख है। कैकेयी की भी यही धारणा है—

> काने, खोरे, कूबरे, कुटिल कुचाली जानि।
> तिय विसेस पुनि चेरि कहि, भरत-मातु मुसकानि॥

'रामचरित मानस' के प्रारम्भ में गोस्वामी जी ने साधु प्रकृति के व्यक्तियों की वंदना के बाद दुष्ट प्रकृति के लोगों की भी वंदना की है। दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति परिवार तथा समाज को दूषित करने का प्रयत्न करते रहते हैं और साधु प्रकृति के लोग सबको 'दूषण' से बचाने के लिए तत्पर रहते हैं। मंथरा और शूर्पणखा दोनों दुष्ट प्रकृति की स्त्रियाँ है जिनके कारण राम-कथा में, अवांछित संघर्ष की स्थितियाँ पैदा होती है।

* * * *

मंथरा के कारण अयोध्या में जो कुछ घटित हुआ उसके लिए केवल उसे ही दोष नहीं दिया जा सकता। राजा दशरथ के अन्त:पुर में, सपत्नियों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष की स्थिति पहले से वर्तमान थी। वाल्मीकीय रामायण से ज्ञात होता

है कि कौशल्या को वह सम्मान प्राप्त नहीं था जो बड़ी रानी होने के कारण उसे प्राप्त होना चाहिए। वन के लिए प्रस्थान करते समय, राम से वह अपनी दयनीय स्थिति, राजा के तिरस्कार तथा कैकेयी के दुर्व्यवहार की चर्चा करते हुए कहती है कि मैं कैकेयी की दासियों से भी निम्न स्तर की समझी जाती हूँ (२.२०.३८-४०)। कौशिल्या, भविष्य में कैकेयी द्वारा संभावित अनिष्ट की आशंका से दुःखी है इसीलिए, वह राम के साथ ही वन जाना चाहती है। राम कहते हैं—'कैकेयी ने राजा को धोखा दिया है। ऐसी स्थिति में यदि तुम भी उनका साथ छोड़ दोगी तो वे जीवित नहीं रह सकेंगे (२.२४.११)।' अपने वनवास में, अयोध्या से बाहर, वत्स देश में पहुँचकर राम, लक्ष्मण को अयोध्या वापस इसलिए भेजना चाहते हैं कि कैकेयी से, कौशल्या और सुमित्रा के अनिष्ट की उन्हें आशंका है (२.५३.१४-१६)। यह सब होते हुए भी, प्रारम्भ में कैकेयी के मन में, राम के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव या मालिन्य नहीं है। मंथरा से, राम के युवराज पद पर प्रतिष्ठित किए जाने के आयोजन की सूचना पाकर, वह अत्यन्त प्रसन्न होकर उसे बहुमूल्य आभूषण उपहार में देती है (२.७.३५)। वह इतनी प्रसन्न है कि मंथरा से कहती है कि तू मुझसे कोई भी वरदान माँग सकती है। मेरी दृष्टि में, राम और भरत में कोई अन्तर नहीं है। यदि राम को राज्य मिल गया तो यह भरत को मिला राज्य समझो। राम अपने भाईयों से इतना स्नेह रखते हैं कि वे उनके अहित की बात कभी सोच भी नहीं सकते।

'रामचरित मानस' में मंथरा के चरित्र को जन-साधारण के बीच से उठाया गया है। वह वाल्मीकीय रामायण की मंथरा की तरह, राजमहल में रहने वाली दासी ही नहीं है, जन-समाज से भी उसका सम्पर्क बना हुआ है। वाल्मीकीय रामायण में घटना के एक दिन पूर्व, मंथरा, कैकेयी के महल की छत पर चढ़कर बाहर का उत्सव-आयोजन देखती है और कौशल्या के महल के ऊपरी हिस्से में सज-संवर कर खड़ी अति प्रफुल्लित राम की धाय से आयोजन का कारण पूछती है। राम के युवराज पद की बात सुनते ही वह अपने कक्ष में विश्राम कर रही कैकेयी के पास पहुँचती है। रामचरित मानस में मंथरा को नगर-भ्रमण करते हुए, नगर के लोगों से ही राम के युवराज पद की सूचना मिलती है—'पूछेसि लोगन्ह काह उछाहा। राम तिलक सुनि भा उर दाहा।' कैकेयी भी प्रारम्भ में, मंथरा द्वारा कहे गए कौशल्या और राजा दशरथ के षडयंत्र को, मंथरा का बुद्धि-भ्रम समझती है। फिर भी, मंथरा हार नहीं मानती। अंततः, वह अपने अभियान में अर्थात् कैकेयी की बुद्धि को भ्रष्ट करने में सफल हो जाती है। उसके तर्क के विभिन्न सोपान इस प्रकार हैं—

— सौत का बेटा भी शत्रु ही होता है ।

— यह राज्य, प्रथम और द्वितीय होने के कारण, राम और भरत दोनों का है । दोनों का इस पर समान अधिकर है ।

-- राम को भरत से भय है ।

— कल, जब राम राज्याधिकार प्राप्त कर लेंगे तो भरत, जो उनका भय है, उसे कैसे जीवित देख सकेगें—

भरतादेव रामस्य राज्य साधारणाद् भयम्
तद् विचिन्त्य विषण्णस्मि भयं भीताद्धि जायते (२.८.५) ।

* * * *

वाल्मीकीय रामायण की अपेक्षा रामचरित मानस का मंथरा-प्रसङ्ग प्रभावशाली इसलिए है कि उसमें मंथरा अपने ग्रामीण परिवेश के साथ उपस्थित है । उसकी भाषा, उसका वाग्-वैदग्ध्य, उसकी कुटिलता तथा कैकेयी की उसके प्रति विश्वसनीयता सबको मिलाकर देखें तो वह अपने आस-पास ही कहीं मिल जाएगी । उसको ढूढ़ने के लिए महलों में नहीं जाना पड़ेगा । वह उन स्त्रियों में है जो सुखी-सम्पन्न परिवारों में, उनके सदस्यों के बीच परस्पर संदेह और आशंका के बीज बोती हैं । मंथरा स्वभावत: कुटिल है । राम के राजतिलक के समाचार से उसे आन्तरिक पीड़ा होती है । वह ऐसी स्थिति पैदा करना चाहती है जिससे रात में ही कोई अनर्थ हो जाय और राम का राजतिलक न होने पाए । वह 'बिलखती' हुई कैकेयी के पास जाती है । अत्यन्त दुखी और पीड़ित होने का अभिनय करती है, आँसू बहाती है । कैकेयी के पूछने पर भी कोई उत्तर नहीं देती । लम्बी साँसें लेती है । कुशल शिकारी की भाँति शिकार को निशाने पर आने का अवसर देती है । कैकेयी के बार-बार पूछने पर पहले राम और कौशल्या के सौभाग्य की ओर संकेत करती है । कैकेयी को परिवार में दरार पैदा करने वाली बात पसंद नहीं आती । मंथरा का अभिनय चलता रहता है अंततः वह सफल होती है । मंथरा, कैकेयी को अपने विश्वास में लेकर राम के राजा बन जाने पर, उसकी और भरत की स्थिति का भयावह चित्र प्रस्तुत करती है । भरत को अहित से बचाने के लिए कैकेयी, मंथरा के अनुकूल आचरण के लिए बाध्य हो जाती है ।

* * * *

मंथरा को अपने अपराध का भयंकर दंड मिला । शत्रुघ्न द्वारा उसकी दुर्गति का चित्र अधिकांश रामायणों में है । रामचरित मानस में उसकी दुर्गति का चित्र सबसे अधिक प्रभावशाली है—

हुमकि लात तकि कूबर मारा। परि मुंहभरि महि करत पुकारा।
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू।
मुनि रिपुहन लखि नख-सिख खोटी। लगे घसीटन धरि-धरि चोटी।

वाल्मीकीय रामायण में कैकेयी अंत तक निर्मूक रहती है। वह किसी से कुछ नहीं कहती। कोई प्रतिकार नहीं करती। अपने कृत्य के लिए, सबसे अधिक तिरस्कार उसे भरत से मिलता है। रामचरित मानस में 'कुटिल नारि पछतानि अघाई' में उसके परिताप का संकेत है। उसे किसी ने क्षमा नहीं किया। अध्यात्म रामायण में वह स्वयं अपने अपराध के लिए राम से क्षमा-याचना करती है—

कृतं मया दुष्ट धिया माया मोहित चेतसा।
क्षमस्व मम दौरात्म्यं क्षमासारा हि साधवः।

मंथरा की ऐतिहासिकता पर बहुत से प्रश्न-चिन्ह है। वह काल्पनिक हो सकती है। उसकी खलपात्रता इसी से सफल है कि उसके प्रति किसी की कोई सहानुभूति नहीं है।

●

गोस्वामी तुलसीदास के भगवान् 'राम'

भगवान् राम उस भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं जिसका मूल स्वर है—'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।' अर्थात् विश्व भर के सभी प्राणी सुखी और स्वस्थ हों । भारत की बहुसंख्यक जनता उनके प्रति अत्यन्त आस्थावान् है और उन्हें अपना आदर्श मानती है । राम-कथा पर लिखे गए अनेक आकर ग्रन्थ, संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में हैं किन्तु, हिन्दी में प्रचार-प्रसार तथा जन-जीवन की प्रासंगिकता की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' बेजोड़ है । रामचरित मानस के कई कथा-प्रसङ्ग 'अध्यात्म रामायण' से लिए गए हैं । अध्यात्म रामायण, ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तर काण्ड के अन्तर्गत आता है । राम के जन्म से लेकर उनकी बाल-क्रीड़ा, धनुष-यज्ञ, विवाह, वन-गमन तथा लंका काण्ड के अनेक प्रसङ्ग दोनों ग्रन्थों में प्राय: एक समान हैं ।

अध्यात्म रामायण में भगवान् राम के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे विश्व की उत्पत्ति, उसकी स्थिति तथा उसकी समाप्ति के एकमात्र कारण हैं, माया के आश्रित होकर भी वे मायातीत हैं, वे विराट होने के कारण अचिन्त्य हैं, आनन्द-स्वरूप हैं, किसी भी प्रकार की उपाधि से रहित हैं, वे तो स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं । सृष्टि के सभी तत्वों का उन्हें ज्ञान है । वे सर्वथा प्रणम्य हैं ।

गोस्वामी तुलसीदास भी राम को इसी रूप में देखते हैं किन्तु वे यह भी कहते हैं कि उनकी सत्ता के फलस्वरूप, रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति यह सारा दृश्यजगत सत्यवत् प्रतीत होता है—

'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जो यथाहेर्भ्रम: ।'

रामनवमी भगवान् राम के जन्मदिन का पर्व है । उनका जन्म चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को हुआ । उस समय कर्क लग्न में पुनर्वसु नक्षत्र का समय था । पाँच ग्रह उच्च स्थान में थे । सूर्य मेष राशि पर स्थित था । इसी दिन मध्याह्न में राम का जन्म हुआ । सनातन परमात्मा जगन्नाथ का आविर्भाव होते ही आकाश

दिव्य पुष्पों की वर्षा से आच्छादित हो गया। रामचरित मानस में केवल चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी और अभिजित मुहूर्त का उल्लेख है—

नवमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरि प्रीता॥

तुलसीदास का वर्णन काव्यात्मक है। मध्य दिन था। न अधिक सर्दी थी और न अधिक गर्मी। बड़ा ही पवित्र समय था जो सभी को शान्ति और विश्राम प्रदान करता है। शीतल, मन्द तथा सुगन्धित हवा बह रही थी। देवता हर्षित थे, सन्तों के मन में उल्लास था। वनाली पुष्पों से आच्छादित थी। पर्वत मणियों की भाँति जगमगा रहे थे। सरिताएँ अमृत की धारा बहा रही थीं।

राम का जन्म हुआ, अन्य भाइयों के साथ उनका नामकरण किया गया। गुरू वशिष्ठ ने उनका नाम 'राम' रक्खा। अध्यात्म रामायण में इस नामकरण-प्रसङ्ग का उल्लेख इस प्रकार है—

यस्मिन् रमन्ते मुनयो विद्यया ज्ञान विप्लवे
तं गुरुं प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि।

ज्ञान के प्रकाशसे अज्ञान के नष्ट हो जाने पर, मुनि जन जिसमें रमण करते हैं अथवा जो अपनी रमणीयता से भक्तजनों के चित्त को आनन्द प्रदान करते हैं वे'राम' हैं।

गोस्वामी तुलसीदास का ध्यान मूलतः भगवान् राम के नाम 'राम' पर रहा है क्योंकि वे नवधा भक्ति में नाम स्मरण को श्रेष्ठ समझते थे। इसीलिए उन्होंने राम नाम की व्याख्या तथा उसकी व्याप्ति को अनेकानेक प्रसङ्गों द्वारा स्पष्ट किया है। नामकरण के संदर्भ में 'राम' शब्द की उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर सों त्रैलोक सुपासी।
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा।

जो साक्षात् ब्रह्म होने के कारण आनन्दमय है, आनन्दसिन्धु है। अपने महत् स्वरूप को छोड़कर धरती पर अवतीर्ण होने के कारण जो सुख की राशि है। जिसके ब्रह्म रूप के कण मात्र से त्रैलोक्य का पोषण होता है और सम्पूर्ण विश्व को शान्ति प्राप्त होती है। राजा दशरथ के आत्मज के रूप में वे ही सुख के धाम हैं। अतः, उनके लिए 'राम' का अभिधान सर्वथा सार्थक है।

अध्यात्म रामायण में कहा गया है कि—

'रामः परात्मा प्रकृतेरनादिरानन्द एकः पुरुषोत्तमो हि।'

राम निःसंदेह प्रकृति से परे, परमात्मा, अनादि, आनन्दमय, अद्वितीय एवं पुरुषोत्तम हैं।

इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि चुम्बक के निकट होने से जिस प्रकार जड़ लोहे में भी गति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार उस राम की सन्निधि मात्र से यह विश्व सदा सब ओर भ्रमण करता है।

जगन्ति नित्यं परितो भ्रमन्ति यत्सन्निधौ चुम्बक लोह वद्धि।

शब्दगत अभिप्राय में 'राम' शब्द में प्रयुक्त दो अक्षर अर्थात् 'र' और 'म' मृदु व्यञ्जन हैं। इनके उच्चारण मात्र से रम्यता और मृदुता का बोध होता है। यही नहीं मात्रा सहित राम जिन तीन अक्षरों से मिलकर बना है वे हैं र+ आ + म। तुलसीदास ने स्पष्ट किया है कि–

बंदहु राम नाम रघुबर के। हेतु कृसानु भानु हिमकर के॥

'र' अग्नि का, 'आ' सूर्य का तथा 'म' चन्द्रमा का कारण है। अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र, प्रकाश के विभिन्न आयाम हैं और ये तीनों देवता वैदिक देवताओं में प्रमुख हैं। अत: 'राम' शब्द प्राचीन देव सृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। यह संसार के अन्धतम को नष्ट करने वाला ज्ञान रूपी प्रकाश का भी प्रतीक है। 'राम' शब्द में तीनों अक्षर सृजन, पोषण और विनाश के प्रतीक भी हैं। ये क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तीनों देवताओं एवं वेदों में वर्णित निराकार, निर्गुण ब्रह्म के भी प्रतीक हैं। इसीलिए तुलसीदास कहते हैं–

विधि हरि हर मय वेद प्रान सों। अगुन अनूपम गुन निधान सों॥

'राम' के 'रा' और 'म' दोनों अक्षर अन्य संदर्भों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं–

वर्षा ऋतु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम वर वरन जुग, सावन भादों मास॥

वर्षा ऋतु, राम की भक्ति है। भक्त जन, धान के पौधे हैं राम के दोनों अक्षर अर्थात रा और म सावन और भादों के वे महीने हैं जिस समय धान के खेत प्रभूत जल-वृष्टि से आप्यायित होकर लहलहा उठते हैं।

'र' और 'म' संक्षिप्त होकर 'रेफ' एवं 'मकार' बन जाते हैं तथा छत्र और मुकुट की भाँति सभी अक्षरों के शीश पर सुशोभित होते हैं। उदाहरणार्थ 'रेफ'र का संक्षिप्त रूप है–जैसे 'दीर्घ'। मकार म का संक्षिप्त रूप है–जैसे 'इदं'। अत:, ये दोनों वर्ण शीर्ष स्थानीय कहे जाएंगे। तुलसीदास का दोहा निम्नलिखित है–

एक छत्र एक मुकुट मनि, सब वरनन पर जोय।
तुलसी रघुबर नाम के, वरन विराजत दोय॥

उच्चारण की दृष्टि से भी राम शब्द का विशेष महत्व है। 'रा' मूर्धन्य एवं कंठ्य वर्ण है और 'म' ओष्ठ्य। इन अक्षरों के उच्चारण को दृष्टि में रखकर तुलसीदास ने कहा है–

तुलसी रा के कहत ही, निकसत पाप पहार ।
पुनि भीतर आवत नहीं देत मकार किवार ।

अर्थात् 'रा' के उच्चारण के साथ मुँह खुल जाता है, वायु बाहर निकलती है । मानो उसके साथ ही अन्दर का पाप रूपी पहाड़ भी बाहर निकल जाता है । इसके बाद 'म' के उच्चारण में मुँह बन्द हो जाता है, ओंठ बन्द हो जाते हैं । अतः, वह पाप रूपी पहाड़ पुनः लौटकर भीतर नहीं आ सकता । 'राम' शब्द का उच्चारण निश्चय ही परम आनन्दमय और पाप को नष्ट करने वाला है ।

तुलसीदास ने इसी 'राम' शब्द के संदर्भ में रूप और नाम पर भी विचार किया है । संज्ञाएँ प्रतीक मात्र हैं । प्रत्येक संज्ञा के साथ वस्तु या व्यक्ति की रूपाकृति का बोध सम्बद्ध है । जब हम किसी व्यक्ति का नाम लेते हैं तो उसके साथ ही हमारे मस्तिष्क-पटल पर उसकी रूपाकृति की छाया उभरती है । अतः, यदि नाम न हो तो रूपाकृतियों का बोध संभव नहीं है । इसका यह तात्पर्य नहीं कि रूपाकृतियाँ होंगी ही नहीं । वे तो रहेगी ही किन्तु नाम के अभाव में उनका स्मरण दुर्लभ एवं असंभव हो जाएगा ।

जिस प्रकार वायुमण्डल में अनेक ध्वनियों एवं रूपाकृतियों की तरंगे विद्यमान रहती हैं किन्तु रेडियो या टेलीविजन के माध्यम से हम विशेष ध्वनि या रूपाकृति की तरंग को ग्रहण करने में सक्षम हो जाते हैं । उसी प्रकार नाम विशेष से ही रूपाकृति विशेष का बोध होता है । तुलसीदास ने इस संदर्भ में बहुत-कुछ लिखा है । यहाँ विस्तार में जाने का अवसर नहीं है । दो-एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

देखियत रूप नाम आधीना । रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना ।

* * * *

उभय अगम जुग सुगम नाम तें । कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें ।

इस नाम और नामी के प्रकरण में स्वयं राम भी नाम के ही आधीन हैं—

समुझत सरिस नाम अरु नामी । प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ।

इसीलिए तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि हम राम नाम रूपी दीपक जीभ की देहली रूपी द्वार पर रखें तो भीतर और बाहर दोनों प्रकाशमान हो उठेंगे—

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार,
तुलसी भीतर-बाहिरौ, जो चाहसि उजियार ।

भरत मुनि, नाट्यशास्त्र और नाट्यकला का प्रवर्तन

नाट्यशास्त्र का रचना काल

भारतीय नाट्यकला का प्रथम महत्वपूर्ण ग्रन्थ, भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' है। यह नाट्यशास्त्र, न केवल नाट्यकला वरन् सभी सम्बद्ध कलाओं की प्राचीनपरम्पराओं एवं शैलियों का, संग्रह-ग्रन्थ है। उसकी जो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें पर्याप्त भिन्नता है (नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती-प्रथम १९२६—रामकृष्ण कवि : भूमिका)। अभिनव गुप्त ने भी, नाट्यशास्त्र के उपादेय अंशों के 'सम्पाठ' तथा अन्य संदिग्ध अंशों के परित्याग की बात कह कर, अपने ग्रन्थारंभ में, इसके प्रक्षिप्त अंशों की ओर ही संकेत किया है। 'उपादेयस्य सम्पाठ: तदन्यस्य प्रतीकनम्'—प्र० अ०, शैली-५)। अभिनव गुप्त के पहले भी, नाट्यशास्त्र में, विभिन्न विषयों के संयोजन एवं परिवर्धन की प्रवृत्ति वर्तमान रही है। फलत:, नाट्यशास्त्र न तो किसी एक अवधि में लिखा गया और न इसका रचयिता कोई एक व्यक्ति है। सामान्यतया नाट्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के रचयिता तथा कथित भरत मुनि दोनों के सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक स्थिति बनी हुई है।नाट्यशास्त्र के कुछ अंश अत्यन्त प्राचीन हैं और इन्हें ईसवी सन् से पूर्व रखा जा सकता है, कुछ का संकलन ईसा की तीसरी और चौथी शताब्दी में हुआ है और इसके कुछ अंश, सातवीं-आठवीं शताब्दी के पहले के नहीं है।अत:, नाट्यशास्त्र को, ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक संकलित और परिवर्धित माना जाता है। पाणिनि (ई० पू० छठीं शताब्दी) के भी पूर्व 'ऐन्द्र व्याकरण'—जिसका उल्लेख नन्दिकेश्वर (काशिका), वररुचि (ऐन्द्र निघण्टु) तथा पतञ्जलि (महाभाष्य) आदि ने किया है—की परम्परा में 'कातंत्र' या 'कलाप' व्याकरण का प्रभाव नाट्यशास्त्र के कुछ अंशों—विशेषतया पन्द्रहवें अध्याय में देखा जा सकता है (युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार—संदर्भ- नाट्यशास्त्र-भोलानाथ शर्मा : पृष्ठ २४)। इस व्याकरण का समय ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी है। अत: नाट्यशास्त्र के कुछ अंश अरिस्तोतेलस (अरस्तू—ई० पू० ३८४-३२३) की 'पेरिपोइतिकेस' (पोयटिक्स) के पहले के हैं।

भरत मुनि–एक काल्पनिक नाम

नाट्यशास्त्र में संभवत: नृत्य-गान आदि के माध्यम से जीविकोपार्जन करने वाली भरत जाति (भ = भाव, र = राग, त = ताल) की परम्परागत सामग्री का संकलन है क्योंकि, सभी रंगोपजीवी भरत के वंशज हैं–'भरताञ्च वंशोऽयं भविष्यच्च प्रकीर्तितम्'–ना० शा० ३६/७४) । पी० वी० काणे का अनुमान है कि इसी जाति के किसी विद्वान कला-मर्मज्ञ ने, अपने पेशे एवं जाति की महत्ता सिद्ध करने के लिए, नाट्य विषयक, शास्त्रीय एवं रंगमंचीय–प्रचलित किन्तु विच्छिन्न–सामग्री का संकलन कर उसे काल्पनिक मुनि 'भरत मुनि' के नाम से प्रचलित कर दिया (हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स) । नृत्य, संगीत तथा नाट्य से सम्बंधित ग्रन्थों में 'भरत' का उल्लेख बार-बार हुआ है किन्तु पौराणिक ग्रन्थों में केवल मत्स्य पुराण (२४–२७-३२) में उनका उल्लेख मिलता है । नाट्यशास्त्र में 'भरत' शब्द का प्रयोग अभिनेता के अभिप्राय में हुआ है और भरत मुनि ने अभिनय करने वालों को 'भरतोत्तमा:' कहा है (ना० शा० (काव्यमाला)– ३५/११) ।

भरत, नृत्य-गीत तथा वाद्य के द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले को कहते हैं । रामलीला के 'व्यासपीठ' की भाँति यह नाट्य प्रयोक्ता अथवा संचालक का पद नाम भी हो सकता है । भवभूति ने भरत को 'तौर्यत्रिक सूत्रकार' कहा है (उ० रा० च०– अंक-४) । मनुस्मृति में 'तौर्यत्रिक', नृत्य, गीत तथा वाद्य से सम्बन्धित कामजन्य व्यसन है (मनु० ७/४९) । महत्वपूर्ण बात यह है कि वेदों से लेकर स्मृति-ग्रन्थों तक सर्वत्र सूत, मागध, शैलूष, कुशीलव, वेशोपजीवी एवं नट आदि को अनैतिक, हेय एवं निम्नवर्गीय कहा गया है । अत:, भरत के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि उपलब्ध विभिन्न संदर्भों पर भी दृष्टिपात किया जाय ।

नाट्योत्पत्ति की कथा–विभिन्न वर्गों एवं जातियों का सहयोग-संतुलन

नाट्यशास्त्र में नाट्योत्पत्ति सम्बंधी जिस कथा का उल्लेख है उसमें पौराणिक काल की वह प्रवृत्ति भी वर्तमान है जिसमें समस्त सृष्टि एवं कृतित्व का श्रेय पितामह ब्रह्मा को दिया जाता है और समस्त विद्या, कला एवं शिल्प के उद्भव का स्रोत वेदों में ढूँढ़ा जाता है । फिर भी, इस कथा में अति प्राचीन संदर्भों के संकेत भी हैं ।

त्रेतायुग के प्रारम्भ में, ब्रह्मा जी से देवताओं ने 'क्रीडनीयक' की माँग उस समय की जब तत्कालीन लोक-समुदाय ग्राम्य धर्म में प्रवृत था तथा देव, दानव,

गन्धर्व, यक्ष तथा नाग जातियों से, लोकपालों से प्रतिष्ठित जम्बू द्वीप आक्रान्त हो उठा था (ना० शा० १/१०)। इसके साथ ही एक सार्वजनिक मनोरंजन की आवश्यकता शूद्रों के निस्तार के लिए भी थी क्योंकि वेद उनके लिए अश्राव्य थे। अतः, ब्रह्मा जी ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के उपादान ग्रहण कर इस 'पंचमवेद'—नाट्यवेद की सृष्टि की (ना० शा० १/१७)। सम्बन्धित श्लोक का 'जग्राह पाठं ऋग्वेदात्' में 'पाठ' का अभिप्राय मात्र संवाद एवं कथा तत्व के रूप में ग्रहण करना भ्रामक है यद्यपि इसी अभिप्राय में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा, पाश्चात्य नाट्यकला की प्रवृत्ति के अनुसार, कथा एवं संवाद को मुख्य मानकर, ऋग्वेद के तथाकथित संवादात्मक एवं कथात्मक अंशों में भारतीय नाट्य के प्रथम रूप की खोज की गई जो भारतीय नाट्यकला की प्रवृत्ति—जो मूलतया अभिनयात्मक है—के अनुकूल नहीं है। अभिनव गुप्त की व्याख्या के अनुसार 'पाठ्यं' का अर्थ, वाणी तथा वाणी के विस्तार के अभिप्राय में है—'पठ् व्यक्तानां वाचि' (अभि० भा०-१/१७)। इस वाणी के अन्तर्गत वर्ण-विन्यास तथा वाद्य-संगीत (ध्रुवा, पद-योजना, पाणिका (ताली), घन, अवनद्ध, तत् तथा सुषिर आदि) को स्वर की प्रधानता के कारण ऋग्वेद से ही ग्रहीत मानना चाहिए (अभि० भा० १/११)। सामवेद से मात्र गीत ग्रहण किया गया क्योंकि गीत को ही 'साम' कहा जाता है—'गीत मात्रं ततो गृहीतं गीतिषु सामाख्या: इतिन्यायात्' (वही)।

विभिन्न तत्वों का संयोजन एवं प्रारम्भिक प्रस्तुतीकरण

नाट्य की सृष्टि के बाद उसको समझने तथा प्रयोग करने में देवों ने अपनी असमर्थता प्रगट की। अतः, यह कार्य भरत को सौंपा गया। उन्होंने अपने सौ पुत्रों को प्रशिक्षित किया। उसी क्रम में नीलकंठ भगवान शिव तथा पार्वती के नृत्य से प्रेरित होकर कैशिकी तथा अन्य वृत्तियों यथा—भारती, सात्त्वती तथा आरभटी को संभवत: केशक, भरत, सात्त्वत तथा आरभट नामक प्राचीन जातियों की अभिनय प्रवृत्तियों से ग्रहण किया गया। वैसे नाट्यशास्त्र में विष्णु से वृत्तियों की प्रेरणा का उल्लेख है (ना० शा० अध्याय २२)। कैशिकी के अभिनय के लिए मंजुकेशी, सुकेशी तथा मिश्रकेशी आदि अप्सराओं की नियुक्ति की गई। इसी प्रकार नान्दी, रेचक, अंगहार पिण्डीबन्ध आदि के संयोजन में शिव के अतिरिक्त, पार्वती, नन्दी तथा तण्डु का भी सहयोग प्राप्त किया गया। नाट्य में प्रहसन, यांत्रिक संगीत तथा गीतादि की योजना, स्वाति नामक भांड़, उनके शिष्यों तथा नारदादि गन्धर्वों की नियुक्ति से संभव हो सकी—'नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिता' (ना० शा० १/५१)। प्रेक्षणीय में अन्य तत्वों के साथ 'श्रव्यत्व' का समावेश सरस्वती के सहयोग से हुआ—'श्राव्यत्वं प्रेक्षणीयस्य ददौ देवी सरस्वती' (ना० शा० १/६१)।

सर्वप्रथम 'इन्द्रमह' या इन्द्र महोत्सव पर, खुले रंगमंच पर 'देवविजय' नाटक का प्रस्तुतीकरण प्रारम्भ हुआ किन्तु, दैत्यों के पराभव को सूचित करने वाले इस नाटक को विरुपाक्ष के नेतृत्व में दैत्यों ने निर्विघ्न अभिनीत नहीं होने दिया। इन्द्र ने 'जर्जर' ध्वज से, दानवों सहित सभी विघ्नों को जर्जरित कर दिया। असुरों अथवा दैत्यों को शान्त किया गया, विश्वकर्मा द्वारा रंग मंडप की रचना हुई। सबका सहयोग प्राप्त किया गया और 'अमृत मंथन' नामक समवकार की प्रस्तुति हुई। इसके बाद के नाटकों में शंकर के वासस्थान पर प्रस्तुत 'त्रिपुरदाह' नामक डिम तथा देवलोक में अभिनीत सर्वाङ्ग सम्पूर्ण नाटक 'लक्ष्मी स्वयंवर' था। नाट्य प्रदर्शन में 'जर्जर' के महत्व को देखते हुए इन्द्रध्वज या वंशवल्ली स्थापन तथा इसकी पूजा के विधान को अनिवार्य किया गया।

नाट्यावतरण–भरत-पुत्रों का शूद्रत्व

प्रथम अध्याय की कथा के अनुसार जिस नाट्य वेद (नाट्यशास्त्र) की सृष्टि देवलोक में हुई उसके धरती पर अवतरण एवं प्रवर्तन की कथा नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में है। कथा का सारांश यह है कि नाट्यज्ञान से प्रमत्त भरत-पुत्रों ने ऋषियों का अपमान कर दिया जिससे क्षुब्ध होकर ऋषियों ने उन्हें शाप दिया कि वे शूद्र हो जाएंगे, उनके सभी वंशज शूद्र कहे जाएंगे, सभी नट-नर्तक वर्ग शूद्र कहा जाएगा और नाट्यज्ञान विस्मृत हो जाएगा। भरत पुत्रों ने ऋषियों से, शाप-मुक्त होने के लिए प्रार्थना की जिससे इस शाप में संशोधन यह हुआ कि नाट्यज्ञान पूर्ववत् रहेगा किन्तु शूद्रत्व नहीं जाएगा। इसके बाद जब राजा नहुष इन्द्रत्व पद पर प्रतिष्ठित हुए तब उनके अनुरोध पर वृहस्पति ने अप्सराओं को तो नहीं—क्योंकि अप्सराओं से मुनष्यों का समागम अभीष्ट नहीं है—भरत मुनि को धरती पर जाने और नाट्य प्रचार करने की आज्ञा दी। भरत मुनि ने स्वयं न जाकर अपने पुत्रों को पृथ्वी पर जाने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार नाट्यशास्त्र अर्थात् नाट्यकला का धरती पर अवतरण हुआ। इसी संदर्भ में यह भी ज्ञात होता है कि इसके पूर्व उर्वशी द्वारा नाट्यकला का ज्ञान पृथ्वीवासियों को दिया गया था किन्तु कालान्तर में वह पूरी तरह विलुप्त या विस्मृत हो चुका था।

इन दोनों कथाओं के विचारणीय संदर्भ इस प्रकार हैं—

१. नाट्यकला अत्यन्त प्राचीन है और इसका उद्भव त्रेता युग के प्रारम्भ से है। सतयुग या कृत युग में इसका प्रादुर्भाव संभव नहीं था क्योंकि सात्विक प्रवृत्तियों के प्राधान्य के कारण उस युग में रस अथवा मनोविकारों के लिए अनुकूल वातावरण नहीं था।

२. नाट्यकला के प्रवर्तन में शिव, पार्वती तथा उनके अनुचरों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

३. इन्द्रादि देवगण इस नाट्यकला को समझने और प्रयोग करने में असमर्थ थे। अतः, भरत मुनि के निर्देशन में उनके सौ पुत्रों (नाट्य के पुरुष कलाकार) एवं अप्सराओं (नाट्य के स्त्री कलाकार) के द्वारा नाट्य प्रयोग संभव हो सका।

४. नाट्य प्रदर्शन में विरोध और विग्रह को समाप्त करने में जर्जर का सहयोग अपेक्षित है अतः, जर्जर-पूजा अथवा वंशवल्ली पूजन को अनिवार्य किया गया।

५. भरत मुनि के सभी पुत्र, ऋषियों के शाप से शूद्रत्व को प्राप्त हुए। उनको, उनके वंशजों एवं रंगमंचीय कलाकारों को शूद्र कहा जाने लगा।

६. पृथ्वी पर भरत पुत्रों को राजा नहुष ने संरक्षण प्रदान किया और उन्हीं की प्रेरणा और सहयोग से नाट्य कला का पल्लवन और विकास सम्भव हो सका।

इनके अतिरिक्त अन्य बातें भी ध्यान देने योग्य हैं। यथा, भरत के सौ पुत्रों की सूची में अधिकांश नाम यथा—जम्बुध्वज, काक जङ्घ, भल्लक, शम्बर, वीभत्स, शंकुकर्ण आदि आर्य प्रकृति के नहीं है। अप्सराओं के नामों में एक भी नाम प्रचलित अप्सराओं में नहीं है।

भारतीय नाट्यकला के प्राचीनतम संदर्भ–सिन्धु सभ्यता में नृत्य-नाट्य

पौराणिक प्रवृत्ति में लिखी गईं उपरोक्त काल्पनिक कथाओं में नाट्यकला के जिन प्राचीन संदर्भों के उल्लेख हैं उनके ऐतिहासिक अवशेष सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध होते हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता, जिसका परिवृत्त केवल हड़प्पा और मोहन जोदड़ो तक ही सीमित नहीं है बल्कि जिसमें पंजाब, सिन्ध, राजस्थान, गुजरात, बलूचिस्तान तथा उत्तर प्रदेश का पश्चिम भाग भी सम्मिलित है, भारत की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति का आदिस्रोत है। यह सभ्यता निषाद—नाग (आग्नेय), दस्यु-दास (द्रविड़) एवं इनकी तमाम जातियों या प्राग्वेदिक अनार्यों से सम्बन्धित है (मोहन जोदड़ो एण्ड इट्स सिविलाइजेशन-जे० मार्शल)। यहाँ के प्राप्त अवशेषों से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ नृत्य अथवा नाट्य की सुसंस्कृत परम्परा विद्यमान थी। यहाँ के बृहत् कक्ष, नटराज शिव का अस्तित्व, नर्तकी की मूर्ति, सौन्दर्य प्रसाधन, चेहरों को रंगने के विविध उपकरण तथा आर्यों की सभ्यता के विपरीत समुन्नत नागर सभ्यता के अनेक अवशेष इसके प्रमाण हो सकते हैं।

सिन्धु सभ्यता में नृत्य तथा नाट्य के लिए अनुकूल वातावरण था साथ ही सुसंस्कृत या शास्त्रीय नृत्य की विकासशील परम्परा वहाँ विद्यमान थी। नाट्य की उपस्थिति के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ग्रीक, मैक्सिको तथा कुछ अन्य देशों में नाट्योत्पत्ति लिंगोपासना तथा नृत्य-गीत के समाश्रय से हुई है। सिन्धु

सभ्यता में लिंगोपासना (लम्बे प्रस्तर खंड) तथा नृत्य-गीत (उपरोक्त नर्तकी मूर्ति तथा नृत्यरत नटराज की मूर्ति) का अस्तित्व है। अतः, नाट्य की उपस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भारतीय भाषा, (माहेश्वर सूत्र), संगीत-नृत्य तथा नाट्य का सम्बन्ध भी भगवान शिव तथा उनके नृत्य से है। *शिव के नटराज* रूप की कल्पना का विकास यद्यपि द्रविड़ संस्कृति में हुआ किन्तु इसका मूल रूप आग्नेय जाति की संस्कृति में है। विवादास्पद होते हुए भी सिन्धु सभ्यता का समाज मुख्यतया आग्नेय (नाग, निषाद) द्रविड़ (दस्यु-दास) तथा मंगोल (कीकट-किरात) आदि जातियों से सम्बद्ध था। आर्यों के आगमन के पूर्व इन जातियों द्वारा नृत्य-नाट्य की परम्परा विकसित की जा चुकी थी।

नाट्यकला का पल्लवन

नाट्यशास्त्र के अनुसार देवतागण ब्रह्मा द्वारा रचित नाट्यवेद अथवा नाट्य-कर्म को समझने, धारण करने तथा प्रयोग करने में असमर्थ थे—

ग्रहणे धारणे ज्ञाने प्रयोगे चास्य सत्तम
अशक्ता भगवन् देवा अयोग्या नाट्य कर्मणि। ना० शा० १/२२

इसी प्रकार ऋषियों में भी, किसी को इस नाट्यकला को सीखने तथा प्रयोग करने के योग्य नहीं समझा गया। अतः, यह दायित्व भरत और उनके सौ पुत्रों को ग्रहण करना पड़ा—

त्वं पुत्रशत संयुक्तःप्रयोक्तास्य भवानघः। ना० शा० १/२४

प्रश्न स्वाभाविक है कि भरत मुनि तथा उनके सौ पुत्रों को ही यह कार्य क्यों सौंपा गया? क्या ये लोग देवताओं से पृथक थे? क्या किसी परम्परा के कारण, यह कला इन लोगों के लिए सहज बोधगम्य थी? इन प्रश्नों के समाधान के लिए, आर्यों तथा अनार्यों की पृथक् संस्कृति तथा उनके बीच सदियों तक चलने वाले संघर्ष और संतुलन पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

वैदिक काल में जिस समय पंचनद प्रदेश तथा उसके समीपवर्ती स्थानों में आर्य जातियों का प्रभुत्व था उस समय उत्तर, दक्षिण तथा पूर्व के कुछ स्थानों में अनार्य जातियों के राज्य थे। यद्यपि आर्यों में भरतों तथा यादवों ने अपने उदार दृष्टिकोण के कारण, अनार्यों के साथ मिलकर रहने तथा उनकी अनेक परम्पराओं को मान्यता देने का प्रयत्न किया किन्तु अधिकांश आर्यों की विस्तारवादी नीति के कारण बहुत सी अनार्य जातियों को आर्य मत में दीक्षित होना पड़ा। उदाहरणार्थ, बलभूथ (ऋ० ८/४६/३२) ने आर्य धर्म स्वीकार कर उसके प्रवर्तन में अपना योगदान दिया। 'ब्रात्यष्टोभ' (पंचविंश ब्रा०) ब्रात्यों को आर्य बनाने का अनुष्ठान है। जिन्होंने आर्य धर्म स्वीकार नहीं किया उन्हें विन्ध्याटवी को पार कर दक्षिणा-

पथ तथा गंगा-यमुना की अन्तर्वेदि से दूर प्राच्य दिशा की ओर खिसकना पड़ा। इतना होते हुए भी तक्षशिला, सौराष्ट्र, विन्ध्य मेखला तथा मगध आदि स्थानों में अनार्यों का अस्तित्व पूर्णतया समाप्त नहीं हो सका। सिन्धु और पंजाब से अनार्यों के हटने के साथ ही, वहाँ से अनादृत नाट्यकला को इन्हीं अनार्य संस्थानों में संरक्षण प्राप्त हुआ। वैसे आर्यों के समाज में तथाकथित शूद्र वर्ग (सूत, मागध, शैलूष, कुशीलव) के द्वारा नृत्य, गीत और अभिनय का प्रवर्तन होता रहा। आर्यों पर, विशेषतया उनकी स्त्रियों पर इन कलाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था (शतपथ ब्रा० ३/२/४/६)। नाट्यशास्त्र में देवों के अतिरिक्त गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पन्नग आदि वे अनार्य जातियाँ हैं जिन्होंने अपने अंशों से अनेकों जाति एवं गुणों के आश्रित भावों और रसों के साथ रूप, बल तथा चित्राभरण आदि प्रदान किया था (ना० शा० १/६२-६३)।

प्रारम्भिक नाट्यकला के स्रोत—नाग जातियों के धार्मिक कृत्य

संगीत, नृत्य तथा नाट्य के शास्त्रीय ग्रन्थों में शिव को 'महानट', 'आदिनट' अथवा 'नटराज', 'नटेश', 'नटनाथ' आदि की संज्ञा मिली है। यह शिव का परवर्ती रूप है। जहाँ तक शिव के विकास का प्रश्न है इसका प्रारम्भिक रूप आग्नेय है जिसमें नृत्यरत शिव की कल्पना (सिन्धु सभ्यता की नटराज मूर्ति) तथा लिङ्गोंपासना (लम्बे प्रस्तर खंड) सम्मिलित है। द्रविड़ों ने शिव और पार्वती को पितृदेव और मातृदेवी की रहस्यात्मक कल्पना से संयुक्त किया। शिव (तमिल-छिवन् = लाल), शंभु (तमिल छेम्यु या शेम्बु = ताम्र) तथा शिवयोगी के अतिरिक्त, शिव के लिङ्ग प्रतीक की आग्नेय कल्पना को, ऊर्ध्वलिंग तथा उनके लिंग और गौरी पट्ट (योनि) को आध्यात्मिक, रूप प्रदान किया। आर्य परम्परा में, आग्नेय और द्रविड़ परम्परा से गृहीत शिव को विस्तार देकर विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया। यहाँ विस्तार में जाने की अपेक्षा संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ऋग्वेदीय देवताओं में शिव और रुद्र का स्थान अत्यन्त निम्न है और उनके मात्सर्य प्रधान दुर्गणों का कथन ही अधिक है किन्तु बाद की संहिताओं में उनका महत्व निरन्तर बढ़ता गया है। कारण यह है कि आर्यों के अनार्य संस्थानों में प्रवेश के साथ, उनके देवता शिव भी आर्यों के मध्य प्रतिष्ठित हुए अन्यथा वेदों में उनके उल्लेख प्रतिकूल ही अधिक हैं। उदाहरणार्थ वाजसनेयी संहिता (३/५७) में अम्बिका उनकी पत्नी न होकर उनकी बहन है—'एष ते रुद्र भाग: सह स्वस्त्राऽम्बिकया...'। बाद में मातृदेवी के रूप में प्रतिष्ठित होकर यही अम्बिका मातृकाओं से सम्बद्ध हुई (दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी—भट्टाचार्य का लेख)।

नटराज (नर्तक) का प्रारम्भिक रूप तथा नृत्यरत नर्तकी को सिन्धु सभ्यता में देखा जा सकता है । नर्तकी आग्नेय जाति की है । डॉ० एम० एम० घोष का विचार है कि चित्रकला की भाँति भारतीय नाटक का उद्‌गम भी धार्मिक भावना से प्रेरित है जो शिव के समादर में, नृत्य और गीत के संयोजन से हुआ (ना० शा० प्रथम भाग (भूमिका) । डॉ० इन्दु शेखर का भी यही विश्वास है कि शिव का नृत्य और भारतीय रंगमंच का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन है (संस्कृत ड्रामा : इट्‌स ओरिजिन एण्ड डिक्लाइन : पृ० १०२) ।

नाट्यशास्त्र में दूसरे नाटक की प्रस्तुति के पूर्व वंशवल्ली स्थापन या जर्जर पूजा के क्रम में अनेक देवताओं के साथ नागों, गन्धर्वों, अप्सराओं, शेष, वासुकि, तक्षक, 'महाग्रामणी' तथा नाट्यकुमारियों की पूजा या आवाहन का विधान किया गया । जर्जर के पोरों में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, शेष, वासुकि तथा तक्षक को स्थापित किया गया (ना० शा० १/९३-९४) । उपरोक्त महाग्रामणी का उल्लेख वाजसनेयी संहिता में मागध और सूत के साथ हुआ है । बाँस की स्थापना और उसकी पूजा का यह विधान नागजातीय अनुष्ठान से सम्बन्धित है क्योंकि वेदों में इन्द्र की मूर्ति, इन्द्रोत्सव, यज्ञ-यूप तथा वंशनर्तिन के उल्लेख तो हैं किन्तु जर्जर या वंशवल्ली स्थापना का कहीं उल्लेख नहीं है । इन्द्रध्वज का उल्लेख रामायण (६/४५/१७, २/७४/३६) तथा महाभारत (आदि पर्व/अ० ६३) में है । यह, वह समय है जब आर्य लोग पूर्व की ओर बढ़ते हुए नागजातियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए थे । आर्यों में नाग-पूजा के प्रसार के साथ-साथ जर्जर की स्थापना और पूजा का प्रसार भी नाग जातियों के सम्पर्क से हुआ ('नाग-पूजा'— वैदिक माइथालोजी, हिन्दी अनु०: पृष्ठ २९२) । महाभारत का वर्तमान रूप ई० पू० पाँचवी शताब्दी से लेकर ईसा की पाँचवी शताब्दी के मध्य निश्चित हुआ है (इंडियन स्टेज-प्रथम : पृ० ११) । इस समय ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म के उदय के फलस्वरूप शिथिल सा हो गया था और उसमें अनेक अनार्य परम्पराएँ प्रवेश कर रहीं थीं । इस समय प्रयाग से लेकर मगध तक शिव तथा अन्य अनार्य देवताओं की आराधना का विशेष प्रभाव था । अतः जर्जरोपासना भी नाग जातियों से ग्रहण की गई । इन्द्र-पूजा को जर्जरोपासना से सम्बद्ध कर आर्यों ने इसको अपने अनुष्ठानों में सम्मिलित कर लिया । सामान्यतया, वृक्षोपासना या नृत्यादि के आयोजन के पूर्व एक अनुष्ठान के रूप में, वंशवल्ली की स्थापना, आग्नेय जातियों की प्रचलित प्रथा है । इंडोनेशिया जहाँ कभी नाग जातियों का प्रसार था अब भी नृत्य या नाटक के प्रारम्भ में वृक्षारोपण किया जाता है । तमिल परम्परा में इस बाँस पूजा को 'तइक्कोल' कहते हैं । हर प्रसाद शास्त्री, कीथ तथा कुछ अन्य विद्वानों ने जर्जरोपासना या इन्द्रोत्सव से नाटक की उत्पत्ति की सम्भावना को स्वीकार किया है (संस्कृत ड्रामा-हिन्दी अनु० : पृ० ३२-३३) ।

विविध भरत नामों की प्रासङ्गिकता

दुष्यन्त पुत्र 'भरत', राम के भाई 'भरत' या मान्धाता के प्रपौत्र 'भरत' आदि ऐसे व्यक्तिगत नाम है जिनसे भरत मुनि या भरत जाति का कोई सम्बन्ध नहीं है । नाट्यशास्त्र के रचयिताओं में 'आदि भरत', 'वृद्ध भरत' तथा 'भरत' को नाट्यशास्त्र के बृहत् और लघु संस्करणों से सम्बन्धित माना जाता है । कहते हैं उपवेद के रूप में प्रतिष्ठित नाट्यशास्त्र में कुल छत्तीस हजार श्लोक थे । शारदातनय ने यह संकेत किया है कि भरतों ने नाट्यवेद के दो संक्षित संस्करण बनाए । एक में बारह हजार तथा दूसरे में छः हजार श्लोक थे । जो नाट्य शास्त्र उपलब्ध है उसके श्लोकों की संख्या छः हजार से कम है । इन विभिन्न भरत नाम के लेखकों की स्थिति भी भरत की भाँति ही संदिग्ध है ।

नाट्यकला के प्रवर्तक के रूप में उस ऋग्वेदीय 'भरत' जाति (आर्य) का उल्लेख आर० वी० जागीरदार आदि ने किया है जिसकी उत्तरकालीन परम्परा से महाभारत की कथा का सम्बन्ध है । ऋग्वेद में यह जाति सुदास, तृत्सु, कौशिक तथा नहुष् (नहुस्) के अनुकूल तथा पंचजना: (अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश तथा पुरु) के विरोध में निर्दिष्ट है (वैदिक इन्डेक्स तथा वैदिक एज—ट्राइब्ज इन ऋग्वेद : पृ० २४५-२५०) । वेदोत्तर काल में इनका उल्लेख प्राय: नहीं मिलता । अनुमान है कि बाद में यह जाति कुरु-पांचालों में विलीन हो गई । नाट्यशास्त्र की कथा में शूद्रत्व को प्राप्त होकर भरत पुत्रों का, नहुष के संरक्षण में धरती पर नाट्यकला का प्रवर्तन करना, उल्लिखित है । श्री आर० वी० जागीरदार का कथन है कि नाट्यकला का पल्लवन इसी ऋग्वेदिक आर्य 'भरत जाति' ने किया जिन्हें, ऋषियों के शाप से शूद्रत्व को प्राप्त होकर अनार्य नहुष् की शरण में जाना पड़ा (ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर : पृ० २८) । ऋग्वेदिक आर्यो का नृत्यनाट्य प्रवर्तक होना और अनार्य की शरण में जाना नितान्त अविश्वसनीय है ।

वेदों तथा परवर्ती ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख हैं जिनसे विदित होता है कि भरत लोग, कुरु-पांचालों—जिनको वैदिक संस्कृति का प्रमुख केन्द्र माना जाता है—की अपेक्षा पहले से यहाँ आकर बसे हुए थे । इनके एक राजा शतानीक-सत्राजित ने काशि के राजा धृतराष्ट्र को पराजित किया था । उस समय काशि, कोशल और विदेह एक साथ संगठित थे । पहले ये भरत लोग कुरु-पांचालों के विरोध में तथा सुदास—जिसे कुछ संभावनाओं के साथ दास या अनार्य कहा गया है—के मित्र के रूप में आते हैं । विश्वामित्र के निर्देश में विपाश और शुतुद्रि की ओर इनके जाने का उल्लेख मिलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह भरत जाति अनार्यों के अधिक सम्पर्क में थी । अनार्यों के प्रति इनका झुकाव ही संभवत: इनकी अप्रतिष्ठा का कारण बन गया ।

श्री जागीरदार तथा डॉ० इन्दु शेखर दोनों ने नहुष को अनार्य कहा है। जागीरदार के अनुसार नहुष का तात्पर्य (न + हुट्) यज्ञ न करने वाले से है। वैदिक इन्डेक्स (हिन्दी) : पृ० ४९६) में उस शब्द का अर्थ (नहुषो नहुष्टर) 'पड़ोसी से भी अधिक निकट' दिया हुआ है। 'नहुस्' शब्द ऋग्वेद में अनेक बार आया है। विद्वानों में मतभेद होते हुए भी इसे एक जाति या एक राजा के रूप में स्वीकार किया गया है (वही)। महाभारत तथा पुराणों में ययाति को नहुष का पुत्र माना गया है किन्तु इसकी संगति ऋग्वेद के संदर्भों से नहीं बैठती। ऋग्वेद (१०/९९/७) में दस्युओं से युद्ध करते समय इन्द्र द्वारा नहुष् के दुर्ग को नष्ट करने का उल्लेख है। अगस्त्य आदि प्रमुख ऋषियों का नहुष से विरोध भी उसके अनार्य होने की सूचना देता है। अगस्त्य के शाप से नहुष् के नाग-योनि में अवतरित होने की कथा में ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि नहुष, नाग जातियों का अधिपति या संरक्षक रहा होगा।

यद्यपि, भरतों द्वारा, नाट्यकला प्रवर्तक अनार्य जातियों को प्रोत्साहित करना अधिक संभावित प्रतीत होता है साथ ही, अनार्य नहुष द्वारा नाट्यकला का प्रचार और प्रवर्तन भी संभावनाओं के अधिक निकट है किन्तु, आर्य भरतों का अनार्य नहुष् की शरण में जाना तर्क संगत नहीं है।

भारत की प्राग्वेदिक आग्नेय तथा द्रविड़ जातियों की कुछ महत्वपूर्ण परम्पराएँ, कोल, मुडा, मानख्मेर, चेरो, भर अथवा भरत (सभी आग्नेय) तथा गोड़, खोंड, ओराँव आदि (सभी द्रविड़) जनजातियों में, अब भी जीवित हैं। यद्यपि ब्राह्मण काल के पश्चात् जातियों एवं धर्मों के मिश्रण से अनेक प्राचीन परम्पराओं का मूल रूप बहुत-कुछ परिवर्तित हो चुका है फिर भी इन जन-जातियों में सामान्यतया शिव से मिलते-जुलते देवता की पूजा, लिंग प्रतीक, वृक्ष और नाग की पूजा, उत्सव, नृत्य तथा गीत से समन्वित धार्मिक कृत्य तथा आमोद-प्रमोद के नाटकीय रूप अब भी देखे जा सकते हैं। गोंड जाति—जो अपने को वन्य वृक्षों की संतान मानती है—की सर्प पूजा और वार्षिक भोज, ओराँव जाति के फसल काटने तथा धरती और आसमान के व्याह रचाने के नृत्य-गान संयुक्त अभिनयात्मक उत्सव, छोटा नागपुर की नाग जाति के युद्ध-प्रतीक तथा नाग मन्दिर आदि उल्लेखनीय हैं। धरती और आसमान के व्याह का उल्लेख ऐतरेय ब्रा० (४/२७/५-६) में भी मिलता है। नाग जाति के युद्ध-प्रतीकों की भाँति, महाभारत युद्ध में अर्जुन आदि के केतुओं पर इसी प्रकार के चिन्ह (कपि-हनुमान, कच्छप-विष्णु, वृषभ-शिव) मिलते हैं (रिलीजन्स ऑफ इंडिया : पृ० ५३९)।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाग जाति की मूल परम्परा में अवशिष्ट, अल्पसंख्यक जन जातियाँ भर तथा चेरो विशेष महत्व की हैं। कोल, चेरो तथा भर कभी एक ही जाति थी। 'भर' ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण जाति रह चुकी है। इसका मूल केन्द्र मिर्जापुर तथा विन्ध्याचल के आस-पास का प्रदेश है। इस जाति में बाँस की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है साथ ही कछुवा, मोर तथा बेल वृक्ष का भी इनके धार्मिक कृत्यों में विशेष स्थान है। इसी प्रकार गारो जाति—जो आग्नेय या नागजातीय है—में भी धर्मिक कृत्य के रूप में वंशवल्ली की स्थापना प्रचलित है।

भरों या भरतों के सम्बन्ध में ए० डब्ल्यू० हॉपकिन्स का कथन है—"प्रसिद्ध नाग जाति के उत्तरकालीन वंशजों में—जिन्होंने एक समय में मगध (बिहार) में शासन किया था—भर और चेरो का ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्व है। कभी भरों, कोलों तथा चेरुओं का एक समूह था जो अब बंगाल की अल्पसंख्यक जनजाति के रूप में अवशिष्ट रह गए हैं। चेरो की भाँति भर भी कोलेरियन (आग्नेय) है, द्रविड़ (द्रवेडियन) नहीं। (रिलीजन्स ऑफ इंडिया : पृ० ५३५)।

वैदिक काल के बाद ब्राह्मण युग से ही आर्यों के संस्कारों में अनार्य तत्वों का सम्मिश्रण, अकस्मात् और अज्ञात रूप से बढ़ता ही जा रहा था। इसको दृष्टि में रखकर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या उत्तर-पूर्व की यह भर या भरत जाति—जो वन्य प्रकृति की होते हुए भी तत्कालीन जातियों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत थी और जिसके सन्निवेश गंगा के तटवर्ती इलाहाबाद से बनारस तक के प्राय: सभी जनपदों एवं अवध, गोरखपुर आदि स्थानों में थे तथा ऋग्वेदिक भरत जाति जिसके युद्ध के संदर्भों को लेकर महाभारत की रचना हुई—क्या दोनों एक ही हैं? यह तो निश्चित है कि ऋग्वेदिक भरत जाति आर्य जाति थी फिर भी यह संयोग कम विचित्र नहीं है कि उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व की दोनों विभिन्न संस्कारों वाली जातियों का नाम एक है। कार्नेगी का कथन है कि यह संयोग और भी भ्रामक तब बन जाता है जब हमें ज्ञात होता है कि 'भर' या 'भार' जो एक प्रकार की जंगली जाति थी, अपने को राजपूत (हिन्दू) मानती है। हॉपकिन्स तथा शेरिङ्ग का कथन है कि इस संभावना के प्रतिपक्ष में भरतों की जाति बोलती है जो निश्चय ही आर्य नहीं बल्कि आग्नेय है (वही : पृ० ५३६)।

'भर', 'भार', 'भरत' जाति द्वारा नाट्यकला का पल्लवन

अत:, प्राग्वेदिक नाग (आग्नेय) जाति, जिसके द्वारा नृत्य अथवा नाट्य की शास्त्रीय परम्परा के सूत्रपात के अवशेष सिन्धु घाटी की सभ्यता में हैं भारशिवों के ऐतिहासिक काल (ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी) तक अपना अस्तित्व बनाए

हुए है । यह 'भर' जाति नागवंशीय है शिवोपासक होने के साथ-साथ लिंगोपासक और नाग-पूजक भी है, वंशवल्ली पूजन की प्रथा इस जाति की अवशिष्ट आदिम जनजातियों में अब भी प्रचलित है । इसकी जनजातीय परम्परा भार, कोल और चीरु की धार्मिक और अभिचारिक प्रथाओं के रूप में अब भी विद्यमान है ।यह भर जनजाति जिसको उपरोक्त विवरणों में कार्नेगी तथा हॉपकिन्स आदि ने 'भरत' कहा है और जिनकी तुलना ऋग्वेदिक भरतों से की है, भारशिवों के रूप में ऐतिहासिक महत्व भी प्राप्त कर चुकी है । कभी यह सुसंस्कृत और समुन्नत जाति रही है । इस जाति को नाट्यकला के प्रवर्तन और नाट्यशास्त्र के परम्परागत विकास का श्रेय देने के पूर्व दक्षिण की द्रविड़ जातीय नाट्यपरम्परा पर भी विचार कर लेना आवश्यक है ।

यद्यपि आर्यों के पूर्व, आग्नेय और द्रविड़ जातियों की मिश्रित परम्पराएँ धर्म, अध्यात्म तथा आभिचारिक कृत्यों में विद्यमान रहीं है फिर भी, नाट्यकला के पल्लवन के मूल-सूत्र आग्नेय (कोलेरियन या नाग) जातियों की परम्पराओं से ही सम्बद्ध रहे हैं । डॉ० इन्द्र शेखर भरतों को अनार्य जातीय तो मानते हैं किन्तु जे० एफ० हेविट तथा शिलोत्री—जिन्होंने अधिकांश समय द्रविड़ जनपद छोटा नागपुर में बिताए हैं—के अनुसन्धानों को महत्व देते हुए, भरतों को द्रविड़जातीय मानते हैं (संस्कृत ड्रामा : इट्स ओरिजिन एण्ड डिक्लाइन : पृ० ३९) । इसके साथ ही 'भरत नाट्यम्' जैसे शास्त्रीय नृत्य की उत्कृष्ट परम्परा जो दक्षिण में विकसित हुई है, इस संभावना को महत्वपूर्ण बनाती है कि भरतों का निवास दक्षिण में ही था (वही : पृ० ४०) ।

आर० वी० जागीरदार जहाँ भरतों का सम्बन्ध ऋग्वेदिक भरतों से जोड़ते है वहाँ डॉ० इन्द्रशेखर उन्हें दक्षिण भारतीय होने की सम्भावनाओं की पुष्टि करते हैं । यद्यपि यह तर्कसंगत है कि तमिल नाट्य 'कुत्तु' की परम्परा में 'कुत्तार', 'पुरुनार', (अभिनेता) तथा 'विटलियार' (अभिनेत्री) आदि शब्द जैसा कि एम० वरदराजन का कथन है, ईसा से १००० वर्ष पुराने हैं किन्तु उत्तर-भारतीय परम्परा में, वैदिक ग्रन्थों में ही नट्, नृत्य, नृतू (नर्तकी) , शैलूष, सूत, मागध, कुशीलव आदि अनेकों शब्द हैं जो नृत्यादि की परम्परा को सूचित करते हैं । संगम साहित्य के प्रथम से तृतीय काल का समय ई० पू० ५०० से ई० सन् ५०० तक माना जाता है । प्रथम काल में अगस्त्य का 'अकत्तियम्' तथा तृतीय काल में निर्मित 'शिलप्पदिकारम्' तथा 'मणि मेखलई' (दोनों महाकाव्य) ईसा की दूसरी शताब्दी की रचनाएँ हैं ।इन सभी ग्रन्थों में नृत्य और नाट्यकला के अनेकों उल्लेख हैं । इतना होते हुए ये सब उत्तर भारतीय नाट्य परम्परा से प्राचीन नहीं हैं । क्योंकि यहाँ सिन्धु सभ्यता (संभवत: ईसा से २-३ हजार पूर्व) से लेकर वैदिक काल से पौराणिक काल तक

नाट्यकला के अनेक संदर्भ प्राप्त होते हैं। अनार्य सभ्यता के प्रमुख केन्द्रों से प्राप्त प्राचीन अवशेषों में मोहन जोदड़ो तथा नन्दनगढ़ की नर्तकी मूर्तियाँ, तक्षशिला की पूर्व मौर्यकालीन पक्व मृत गुटिका आदि तो इसके प्रमाण हैं ही प्रथम-दूसरी शती के अवशेषों में सीतावेगां की नाट्यशाला, गिरिनार, नासिक तथा कलिंग के शिलालेखों में नाट्य सम्बन्धी संकेत, मथुरा के प्राचीन शिलालेख में 'लेणशोभिका' नामक अभिनेत्री का उल्लेख यह सूचित करते हैं कि उत्तर भरत में ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी तक नाट्यकला पूर्णतया समादृत हो चुकी थी।

अब, जहाँ तक नाट्य प्रवर्तक भरत जाति का प्रश्न है बहुत अधिक संभावना यही है कि यह नागजातीय रही होगी। भारशिव-नागों के ऐतिहासिक महत्व प्राप्त करने के पूर्व इसी जाति के किसी सुसंगठित कलाकार वर्ग ने जिसने नृत्य-नाट्य आदि को जीविकोपार्जन के रूप में परम्परागत रूप से स्वीकार किया होगा—नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी नियमों का संग्रह किया होगा और कालान्तर में उसमें निरन्तर वृद्धि होती गई होगी। आज जो नाट्यशास्त्र उपलब्ध हैं उसके वर्तमान रूप में आने के पूर्व अनेक विद्वान कलाकारों द्वारा अनेकों बार उसका परीक्षण, परिमार्जन और परिवर्धन हुआ होगा।

भरत मुनि का 'रस-सूत्र' तथा आधुनिक साहित्य में 'रस' की प्रासंगिकता

जब हम किसी कृति को, अर्थात् कविता, उपन्यास तथा कहानी आदि को पढ़ते हैं अथवा, किसी नाटक को मंच पर प्रदर्शित होते देखते हैं तब, हमारा मन जिन मनोवैज्ञानिक स्थितियों से होकर गुजरता है, वे स्थितियाँ प्रारम्भ से लेकर आज तक, आलोचकों के लिए, अस्पष्ट, गहन और तर्कगम्य बनी हुई हैं। यही नहीं, इनकी व्याख्या में, अनेक सिद्धान्तों एवं वादों का जन्म होता रहा और बदलते हुए युग के अनुरूप, कृतियों को समझने, अनुभव करने या उनका आस्वाद ग्रहण करने का मानदंड भी बराबर बदलता रहा।

भारतीय काव्य-शास्त्र में, कृति अथवा रचना के आस्वादन की प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने वाला 'रस सिद्धान्त' सबसे प्राचीन सिद्धान्त है जो पाठकों अथवा दर्शकों की मन:स्थिति को, पूरी तरह स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। यह कहा जाता है कि 'रस' भारतीय काव्यशास्त्र की महानतम उपलब्धि है। यों तो विभिन्न रसों के दर्शन, वेदों में वर्णित विविध प्रसंगों में ही होने लगते हैं किन्तु, इनका व्यापक दर्शन महर्षि वाल्मीकि की रामायण में होता है। इसी प्रकार, सैद्धान्तिक दृष्टि से, रसों की व्याख्या का प्रारम्भ भरत मुनि के प्रसिद्ध रस-सूत्र-'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पति:' से होता है। इसके पूर्व भी, रसों की व्याख्या या विश्लेषण की शृंखला अवश्य रही होगी जो पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय में, 'अनुवंश्य श्लोका:' के रूप में इनका कहीं-कहीं उल्लेख किया है। रस की व्याख्या का प्रारम्भ नाटक के प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में होता है और अपने व्यापकत्व में यह भारतीय काव्य शास्त्र का मूल तत्व बन जाता है।

नाटक के विवेचन में यह कहा गया है कि 'इतिवृत' यदि नाटक का शरीर है तो उसकी आत्मा 'रस' है। 'न हि रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते' अर्थात् रस के बिना, अन्य नाट्यांगों का कोई अभिप्राय नहीं है। रस के महत्व को निसर्गत: स्वीकृत

कर लेने के बाद, यह कहा गया कि रस के अनुरूप ही, नाटक में नाट्यंगों की योजना होनी चाहिए और रस का महत्व नाटककार, अभिनेता तथा दर्शक, तीनों के लिए है।

रस की व्याख्या के परम्परागत (अनुवंश्य)- संदर्भ और भरत मुनि का विश्लेषण

भरत मुनि का रस-सिद्धान्त, व्याख्याकारों के अनुसार, भौतिक जीवन के अनुभवों से जितना संपृक्त है उतना ही आध्यात्मिक चिन्तन से भी इसका सम्बन्ध है। यद्यपि आज की वैज्ञानिक बुद्धि को इसमें थोड़ी कठिनाई हो सकती है किन्तु रस-सिद्धान्त, विज्ञान के प्रतिकूल नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि मनोविज्ञान की दृष्टि से भी 'रस' विवेच्य नहीं है क्योंकि विवेच्य की अपेक्षा यह 'आस्वाद्य' है और इसके 'आस्वाद्य स्वरूप' की ही व्याख्या सम्भव है।

रस कौन सा पदार्थ है ? इसके उत्तर में भरत मुनि का कथन है कि 'आस्वाद्यत्वात्' अर्थात् आस्वाद्यमान होने से इसे 'रस' कहा जाता है। आस्वाद्य की प्रक्रिया भोज्य पदार्थों के आस्वादन से किस प्रकार भिन्न है, इसको स्पष्ट करने के लिए उन्होंने दो अनुवंश्य श्लोकों को उद्धृत किया है—

> यथा हि बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैबहुभिर्युतम्
> आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः।
> भावाभिनय सम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः
> आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्य रसाः स्मृताः।

अर्थात् जिस प्रकार बहुत से द्रव्यों एवं व्यंजनों से युक्त भात (चावल) को खाते हुए, भक्तविद् (भात के स्वाद को जानने वाले) इसके स्वाद का आस्वादन करते हैं उसी प्रकार भावाभिनय से सम्बद्ध स्थायी भावों का बुधजन मन से आस्वादन करते हैं जिससे उन्हें 'नाट्य रसाः' कहा जाता है।

भावाभिनय आदि से युक्त स्थायी भावों के आस्वादन को ही रस कहा जाता है। अतः, रस पद्धति स्पष्ट रूप से आस्वाद्यपरक है। इस आस्वादन की तुलना भोज्य पदार्थों के आस्वादन से की गई है। अन्तर यह है कि रस का आस्वाद, भावाभिनय अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों आदि से युक्त स्थायी भावों का 'मानस व्यापार' है जबकि, भोज्य पदार्थों का आस्वादन, 'रसना-व्यापार' कहा जा सकता है। रस के आस्वादन में स्थायी भाव ही मूल हैं जो मानस व्यापार द्वारा रसत्व को प्राप्त होते हैं।

अपने प्रसिद्ध रस-सूत्र में, भरत मुनि ने स्थायी भाव तथा रस दोनों के अन्योन्याश्रित होने से, स्थायी भाव का नाम नहीं लिया हैं। रसों के प्रत्यक्षीकरण

के साथ ही, भावों का प्रत्यक्षीकरण होता है। इसके पूर्व भावों का कोई प्रत्यक्ष या भावित करने वाला व्यक्तित्व नहीं होता। प्रसिद्ध रस-सूत्र इस प्रकार है—

विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः।

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इसका दृष्टान्त क्या है इसके उत्तर में भरत मुनि कहते हैं—

'यथा हि नाना व्यञ्जनोषधिद्रव्य संयोगाद्रस निष्पत्तिः तथा नाना भावोपगमाद्रस निष्पत्तिः।'

जिस प्रकार अनेक व्यंजनों, ओषधियों, एवं द्रव्यों के संयोग से भोज्य पदार्थों के आस्वादन से (स्वादेन्द्रिय) रस की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों के संयोग से (मानस) रस की निष्पत्ति होती है। इसका एक दूसरा दृष्टान्त भी उन्होंने दिया है—

'यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यव्ज्नैरोषधिभिश्च षाडवोदयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।'

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों तथा ओषधियों आदि से षाडवादि (षट् रस तथा अन्य) रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार नाना भावों अथ्मत् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से, स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार, इन दोनों उदाहरणों में, प्रथम में उन्होंने 'संयोगाद्' तथा दूसरे में 'निष्पत्ति' शब्द पर विशेष बल दिया है जिसका अभिप्राय यह है कि रसानुभव, विभिन्न तत्वों के संयोजन अथवा उनकी एकात्म संहति पर निर्भर है।

'रस' को रस ही क्यों कहा जाय ? इसका भी समाधान भरत मुनि ने किया है। उनके कथन का सारांश यह है कि भोज्य पदार्थों के आस्वाद्य रूप को 'षट्रस' (मधु, तिक्त, लवण, कषाय, कटु तथा अम्ल) कहा जाता है। यह रसना अर्थात् जिह्वा का कार्य है। भोजन के दौरान स्वाद के अनुकूल हर्षादि की अनुभूति होती है।इसी प्रकार, अनेक भावाभिनयों द्वारा व्यंजित तथा वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय से युक्त, स्थायी भावों का सहृदय दर्शक, आस्वादन करके हर्षादि का अनुभव करते हैं। इसीलिए नाट्य से अनुभूत इस विशेष आस्वाद को 'नाट्य रसाः' कहा जाता है।

रस चर्वणा या रस के आस्वाद्य की व्याख्या में, भरत मुनि ने भोज्य पदार्थ के आस्वाद्य को समानान्तर रखा है। दोनों की तुलना करते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि भोज्य पदार्थों का आस्वादन रसना-व्यापार है जबकि नाट्य का आस्वादन मानस-व्यापार है, एक मानसिक प्रक्रिया है। यह 'मानस-व्यापार' अत्यन्त जटिल

विषय है जिसको स्पष्ट करने के लिए, परवर्ती आचार्यों ने अध्यात्म, दर्शन तथा शब्द-शास्त्र आदि विषयों का आश्रय लिया है और अपनी व्याख्याओं में रस की प्रक्रिया को और भी जटिल बना दिया है।

भावों एवं रसों की परस्पर सम्बद्धता एवं सहभागिता

भरत मुनि के उपरोक्त रस-सूत्र में 'स्थायी भाव' जैसा शब्द नहीं है जबकि अपनी व्याख्या में उन्होंने स्पष्ट किया है कि आस्वादन, स्थायी भावों का ही होता है अथवा स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों से ज्ञात होता है कि वे भावों का प्रत्यक्षीकरण, रसत्व की स्थिति के साथ ही मानते हैं। इसके पूर्व स्थायी भाव अप्रत्यक्ष एवं नाम शेष मात्र है। पुन: भरत मुनि स्वयं प्रश्न करते हैं कि 'क्या रसों से भावों की उत्पत्ति होती है अथवा भावों से रसों की ?' इसके उत्तर में वे पाँच अनुवंश्य श्लोकों को उद्धृत करते है जिसका सारांश इस प्रकार है—

— भाव, रसों को भावित करते हैं।

— व्यंजनों की भावना या संस्कार की भाँति भाव, रसों को भावित करते हैं।

— भावों के बिना रसों की स्थिति नहीं है और न रसों के बिना भावों की।

— भाव और रस दोनों एक-दूसरे को भावित करते हैं।

— बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से पुष्प और फल की भाँति, मूलत: रसों में ही भावों की स्थिति है।

(अनुवंश्य श्लोक ३ से ७)

तात्पर्य यह कि भाव और रस परस्पर सम्बद्ध, पूरक तथा सहगामी हैं। इसका कारण यह है कि काव्य और नाटक दोनों में, भावों का प्रत्यक्ष गोचर रूप, काव्य के श्रवण अथवा नाटक के अभिनय के द्वारा ही सामने आता है और उसी भावना संस्कार या प्रत्यक्षीकरण को रस कहा जाता है। भाव, इसी रसत्व की स्थिति में, अपने स्वरूप की पहचान कराते हैं।

भरत मुनि की इस व्याख्या में, शब्दों के अर्थ-विस्तार या अर्थ-ध्वनि में जाने पर, व्याख्या की अन्य सीमाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। अत: रस का उद्गम-स्रोत, सहृदयों या सामाजिकों के पक्ष में उसके उपभोग या अनुभावन की प्रक्रिया तथा विभावादि से रसोत्पत्ति की पहचान आदि अनेक प्रश्नों को स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध किया जा सकता है। भरत मुनि के परवर्ती व्याख्याकारों को, इन अनेक प्रश्नों एवं शंकाओं के लिए स्वकल्पित सिद्धान्तों, अभिप्रायों और परिकल्पनाओं के लिए पूरी छूट रही है।

परवर्ती प्रसिद्ध व्याख्याकार और उनकी दार्शनिक प्रतिबद्धता

भरत मुनि अपनी व्याख्या में अत्यन्त सीमित है। वे स्वादेन्द्रिय द्वारा प्राप्त आस्वाद अर्थात् रसना-व्यापार की भाँति ही, भावाभिनय आदि से उत्पन्न आस्वाद अर्थात् मानस-व्यापार को, रसानन्द का मूल कारण मनाते हैं।रस, मानस-व्यापार है, यह तथ्य ही इसे एक मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान करता है। भारत में मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र का सहगामी रहा है। अत: रस की व्याख्या में, अनेक व्याख्याकारों ने शब्द-शास्त्र तथा दर्शनशास्त्र का आधार ग्रहण किया है। पूर्वोक्त रस-सूत्र में इन व्याख्याकारों ने अपनी दृष्टि 'संयोगाद्' तथा 'निष्पत्ति:' इन दो शब्दों पर केन्द्रित की और तदनुसार स्थायी भाव तथा रस के आस्वाद की प्रक्रिया पर, विशेषतया अपनी-अपनी व्याख्याएँ प्रस्तुत करने की कोशिश की। इस सम्बन्ध में मीमांसक भट्ट लोल्लट (उत्पत्तिवाद), नैय्यायिक शंकुक (अनुमितिवाद), सांख्य दार्शनिक भट्ट नायक (भुक्तिवाद) तथा शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त (व्यंजनावाद) आदि की विस्तृत व्याख्याओं से रस, भौतिक सीमाओं का अतिक्रमण कर अलौकिक, दिव्य आनन्द की श्रेणी में पहुँच गया है। इनके अतिरिक्त संस्कृत के प्राय: सभी आचार्यों ने रस-प्रक्रिया पर अवश्य विचार किया है। इनके विचारों की भिन्नता के कारण भी रस-सिद्धान्त के नये आयाम प्रगट हुए हैं।

प्रमुख व्याख्याकारों के मतों का सारांश यह है कि भट्ट लोल्लट तथा शंकुक दोनों ही स्थायी भावों को रसों का पूर्व रूप मानते हैं। भट्ट लोल्लट विभावादि द्वारा उपचित, स्थायी भाव को रस कहते हैं और जो उपचित नहीं है अर्थात् अपचित है वह मात्र स्थायी भाव है। शंकुक, स्थायी भाव के प्रत्यक्षीकरण रूप को ही 'रस' मानते हैं। विभावादि से अभिनय या अनुकरण के माध्यम से, जिस स्थायी भाव की प्रतीत कराई जाती है, वह रस है। स्थायी भाव, अनुकार्य रामादिगत ही होता है किन्तु उसका अनुमान, अनुकर्ता (नट) के अभिनय द्वारा, इस प्रकार होता है कि वह कृत्रिम और अभ्यास जन्य प्रतीत नहीं होता। शंकुक यह मानते हैं कि स्थायी भाव पूर्वत: स्थित होते हुए भी, विभावादि द्वारा नट गत रूप में अनुमित होता है। यह अनुमान, रामादिगत स्थायी भाव का अनुकरण रूप ही होता है। 'अनुक्रियमाण' स्थायी भाव ही रस है। स्थायी भावों का बोध, अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य होता है किन्तु, उनका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान तो रस ही होता है।

भट्ट नायक के मत में, रस की प्रतीति, रत्यादि स्थायी भावों का भोगीकरण रूप है। यह भोगीकरण, अभिधा की दूसरी शक्ति अर्थात् भावकत्व द्वारा विभावादि के साधारणीकृत हो जाने पर, इसकी तीसरी शक्ति अर्थात् भोजकत्व व्यापार से, सामाजिकों को अनुभूत होता है या उनके द्वारा भोग किया जाता है। इस प्रकार

भट्ट नायक के अनुसार रस न तो उत्पन्न होता है, न प्रतीत होता है और न अभिव्यक्त होता है। रस का आस्वादन उसका भोगीकरण रूप ही है। तात्पर्य यह है कि घट आदि बाह्य पदार्थों की भाँति रस की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती। उसका भोग आन्तरिक रूप से आत्मा के द्वारा होता है ओर यह भोगीकरण रत्यादि स्थायी भावों का ही होता है—'प्रतीतिरस्य भोगीकरणम् तच्च रत्यादि स्वरूपम् (अभिनवभारती)।'

अभिनव गुप्त स्थायी भाव की स्थिति, रस-दशा के पूर्व तथा पश्चात् की स्थितियों में भी परोक्ष रूप से मानते हैं। उनके अनुसार रस तो उनके चर्वणा काल में ही उपस्थित होता है। रस, स्थायी भाव की अपेक्षा विलक्षण इसलिए है कि रस की स्थिति चर्वणा काल में ही रहती है, चर्वणा के अतिरिक्त दूसरी स्थितियों में नहीं रहती। जबकि स्थायी भाव, व्यक्त या अव्यक्त रूप में सदैव वर्तमान रहते हैं। उनका कहना है कि स्थायी भाव ही कारण रूप से प्रसिद्ध एवं चर्वणा काल में सामान्यीकृत, विभावादि के अवलम्ब से, निर्वैयक्तिकता ग्रहण किए हुए सामाजिकों को रसानुभव के रूप में प्राप्त होता है। अभिनव गुप्त की रसग्राहिता की कल्पना शैव दर्शन की 'विमर्श' दशा में निहित है जहाँ साधक 'शिवोऽहम्' का अनुभव करता है। उनके अनुसार रसास्वाद, अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण होने से अनुमान, स्मृति या लौकिक प्रत्यक्षता आदि से सर्वथा भिन्न है।

रस के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि विभावादि व्यापारों से एक ही रस की निष्पत्ति होती है। नाटक का प्रधान रस उसके पात्रों के कार्य-कलाप एवं व्यापारों से प्रस्फुटित होता है। इस क्रम में अन्य जो रस रहते हैं उनकी स्थिति नगण्य सी रहती है। स्फोटवाद सिद्धान्त (स्फुटति अर्थो यस्मात्) के अनुसार पद-स्फोट और वाक्य-स्फोट (अर्थात् वर्णों का समुच्चय-पद (शब्द) और पदों का समुच्चय-वाक्य) में जिस प्रकार पदों में वर्णों की तथा वाक्यों में शब्दों की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती उसी प्रकार नाटक में मुख्य रस के साथ अन्य रसों की स्थिति समझनी चाहिए।

भावों एवं रसों के नामों की असम्बद्धता–रसों के वर्ग

रसों एवं भावों के सम्बन्ध में एक अन्य प्रकार का प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है कि स्थायी भावों तथा उनसे उत्पन्न रसों के नामों में इतनी भिन्नता क्यों है कि रसों के साथ, उनके स्थायी भावों के अर्थ में, समानता ही न प्रतीत हो? जैसे श्रृंगार का अभिप्राय 'रति' नहीं हो सकता और न करुण का 'शोक'। इसी प्रकार वीर से उत्साह का, रौद्र से क्रोध का, अद्भुत से विस्मय का, वीभत्स से वीप्सा या घृणा का, भयानक से भय अथवा हास्य से हास का सम्बन्ध मात्र शब्दार्थ

के आधार पर जुड़ता नहीं है। यद्यपि शृंगार और करुण के स्थायी भाव क्रमश: रति और शोक में जितनी विभिन्नता या विजातीयता है उतनी शेष रसों और उनके स्थायी भावों में नहीं है। उनमें एकार्थता तो नहीं है किन्तु सन्निकटता अवश्य है। इसीलिए भरत मुनि ने श्रृंगार और करुण को रति और शोक नामक स्थायी भावों से उत्पन्न कहा है—'श्रृंगारो नाम रतिस्थायिभाव प्रभव:'—'करुणो नाम शोक स्थायिभावप्रभव:'। शेष अन्य रसों को 'स्थायिभावात्मक' माना है—यथा, अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मक:। अर्थात् वे स्थायी भावों के अनुकूल तथा एकरूप हैं। श्रृंगार तथा करुण, रति तथा शोक से उत्पन्न है इसलिए वे प्रयोग में विजातीय तत्वों को भी ग्रहण करने में समर्थ हैं। रसों और भावों की यही स्थिति शान्त से निर्वेद की भी है। शान्त रस को भरत मुनि, नाट्य के लिए विहित नहीं मानते क्योंकि शम या निर्वेद, मन की उस स्थिति को सूचित करता है जब सभी भावों का उपशमन हो जाता है। यह होते हुए भी शान्त रस को अभिप्रेत मानकर संस्कृत में कई नाटक लिखे गए। अभिनव गुप्त ने उल्लेख किया है कि अनेक आचार्य शान्त रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, विस्मय या उत्साह भी मानते हैं। रस और भावों के नामों के सम्बन्ध में, भरत मुनि का कहना है कि ये नाम गोत्र, कुल तथा आचार से उत्पन्न (गोत्रकुलाचारोत्पन्नानि नामानि) आप्तोपदेश से सिद्ध, पुरुषों के नाम सदृश हैं। ये नाट्याश्रित व्यवहारों से परम्परा-सिद्ध नाम हैं।

रसों की परस्पर सम्बद्धता

श्रृंगार का अनुगामी हास्य, हास्य के विपरीत करुण तथा करुण का निमित्त रौद्र रस होता है-ये काम और अर्थ प्रधान रस हैं। काम और धर्म प्रधान रस, वीर (उत्साह) है। भयभीतों को आश्रय प्रदान करने के कारण, इसके साथ भयानक भी जुड़ा है। भयानक और वीभत्स के विभाव समान हो सकते हैं इसलिए भयानक के साथ वीभत्स की भी संगति है। स्थायी भाव विस्मय भी वीररस से आक्षिप्त होता है इसलिए अद्‌भुत रस की अनिवार्यता है। सामान्यतया, भरत मुनि के अनुसार अन्य रसों के उत्पत्ति हेतु या सूचक, श्रृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स हैं—अर्थात् श्रृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्‌भुत तथा वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। अर्थात् श्रृंगार का अनुकरण हास्य, रौद्र का कार्य करुण, वीर का कार्य अद्‌भुत तथा वीभत्स का दर्शन भयानक होता है—

> श्रृंगारानुकृतिर्यार्तु स हास्यास्तु कीर्तित:
> रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेय: करुणो रस:।
> वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्‌भुत: परिकीर्तित:
> वीभत्स दर्शनं यच्च ज्ञेय: स: तु भयानक:।

शृंगार का रंग श्याम और देवता विष्णु, हास्य का रंग सित (श्वेत) और देवता प्रमथ (शिव के गण), करुण का रस कपोत और देवता यम, रौद्र का रंग रक्त और देवता रुद्र, वीर का रंग गौर और देवता इन्द्र, भयानक का रंग कृष्ण और देवता काल, वीभत्स का रंग नील और देवता महाकाल तथा अद्भुत का रंग पीत तथा देवता ब्रह्मा माने गए हैं।

तदाभास एवं तदानुकृति

तदाभास या तदानुकृति रूप से कोई रस अन्य रस से भी उत्पन्न हो सकता है। जैसे, सभी रसों में अनौचित्य से हास्य, हास्य में अनौचित्य से हास्याभास। इस प्रकार का हेतुत्व शृंगार रस द्वारा भी सूचित होता है क्योंकि विभावाभास, अनुभावाभास तथा व्यभिचर्याभास द्वारा रत्याभास के प्रतीत होने पर, रति का वास्तविक परिपाक न होकर केवल चर्वणाभास मात्र होता है, इसे शृंगाराभास कहते हैं। इस शृंगाराभास की चर्वणा में, रति की कामना या अभिलाषा मात्र होती है जो स्थायी भाव नहीं अपितु व्यभिचारि भाव मात्र होती है। इसी रत्याभास या व्यभिचारिभाव रूप रति के कारण, विभाव आदि के आभास बनते हैं। इसीलिए परस्त्री या अननुरक्त स्त्री विषयक रति, रत्याभास रूप में उपस्थित होती है। उदाहरणार्थ, रावण सीता को चाहता है। रावण की यह सीता विषयक रति, वास्तविक रति नहीं वरन् रत्याभास है। रावण के कथन प्रारम्भ में रत्याभास ही प्रतीत होते हैं फिर भी सीता रूपी आलम्बन विभाव के विपरीत, रावण की आयु और प्रकृति के विरुद्ध प्रगट होने वाले चिन्ता, दैन्य, मोह आदि व्यभिचारी तथा रुदन और विलाप आदि अनुभाव, अनुचित होने से तदाभास के रूप में होकर, हास्य के विभाव रूप बन जाते हैं। इसके उदाहरण के रूप में करुणाभास आदि सभी रसाभासों में हास्यत्व समझना चाहिए। इसीलिए भरत मुनि ने शृंगार के अनुकरण को हास्य कहा है।

रस-परम्परा और युगीन प्रवृत्तियाँ-विवादास्पद स्थितियाँ

रस की स्थिति तथा उसकी प्रक्रिया, जिसका विवेचन इन पृष्ठों में किया गया है, सर्वथा निर्भ्रान्त अथवा विवादमुक्त नहीं है। इसके विपक्ष में प्रस्तुत किए जाने वाले तर्क या आरोप ऐसे नहीं है कि उन्हें अनर्गल या निराधार कहकर निराकृत किया जा सके। आधुनिक मनोविज्ञान तथा नवीन समीक्षा-शैलियों का अनुवर्तन करने वाले आलोचकों का आरोप है कि रस की परिकल्पना तत्कालीन रूढ़िवादी, परम्परावादी तथा सामन्तीय प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में विकसित हुई है। मानव-जीवन की वास्तविकता की सही पहचान इसमें नहीं है। आज का आदमी जिन

परिस्थितियों के बीच जी रहा है तथा जिन समस्याओं का उसे पग-पग पर सामना करना पड़ता है, उनसे आक्रान्त मानसिक स्थितियों का संयोजन, इस रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत संभव नहीं है । आज साहित्य का, उसकी विविध विधाओं का जो विस्तार है, जिन नवीन वैयक्तिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का अन्तर्निष्ठ व्यापार, इन विधाओं द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है, उनका समाधान इस रस-सिद्धान्त से नहीं हो सकता । फलतः आज का काव्य ही नहीं, अपितु नाटक, उपन्यास, कहानी, एकांकी आदि भी मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का विश्लेषण जिस रूप में कर रहे हैं, उसका समाधान रस की परिकल्पना के अन्तर्गत संभव नहीं है । आज विज्ञान का—प्रयोगों का युग है साथ ही व्यक्तिवाद के दायरे भी विस्तृत हो रहे हैं, ऐसी स्थिति में, पुरानी सामाजिकता के आधार पर रस की जिस प्रक्रिया की रूप-रेखा बनी, परवर्ती शास्त्रकारों द्वारा उसे जो आध्यात्मिक रूप प्रदान किया, वह सब आज के युगीन-संदर्भों के अनुकूल नहीं है ।

इसके विपरीत, रस के समर्थकों का दावा है कि रस-पद्धति इतनी व्यापक है कि जीवन-जगत् के अनेक संदर्भों तक उसकी गति है क्योंकि हृदय की प्रभावान्विति, विलक्षण सौन्दर्यानुभूति अथवा आत्मा का आस्वादन स्वरूप साक्षात्कार ही रस है । स्थायी भावों की स्थिति—वासना की, चित्तवृत्ति की, संविद की समन्वयात्मक स्थिति है और इसमें अन्तःकरण की वृत्तियों, इन्द्रिय जन्य आवेग तथा विवेकसम्मत बुद्धि व्यापार आदि का समाहार है ।

रस और आधुनिक मनोविज्ञान

इस विवादास्पद स्थिति का समाधान क्या है ? रस, न तो इतना अनुपयुक्त और असामयिक है कि उसके महत्व को, एकदम से अस्वीकृत कर दिया जाय और न इतना सशक्त और सार्वभौमिक कि उसे आज की रचनाओं के लिए भी अनिवार्य और उनकी समीक्षा का एक मात्र मापदण्ड मान लिया जाय । पहले भी रस की पक्षधरता के साथ, समीक्षा के अन्य मानदंड भी विद्यमान थे ।वर्तमान समय में जबकि रचनाधर्मिता में, स्वतंत्र-चिन्तन और वैयक्तिकता का प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण हो उठा है, रस को समीक्षा का अन्तिम मानदंड कैसे माना जा सकता है ? साहित्य अथवा विभिन्न कलारूपों का जो संसार है वह मानव-मन की विशालता से लेकर उसकी सूक्ष्म-गहन संवेदनाओं एवं अनुभूतियों में जीवन्त होता है । किन्तु, आज के मनुष्य की मानसिक संरचना में जो वैज्ञानिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दबाव है, वह पहले नहीं था या इतना सर्वग्राही नहीं था । अब स्थितियों की विद्रूपता ही अधिक मुखर है । अतः, यह स्वीकार करना

पड़ेगा कि चार्ल्स डारविन के 'ओरिजिन आफ स्पेसीज' तथा 'दि डिसेन्ट आफ मैन' से प्रारम्भ होने वाली सृष्टि और जीवन की विकास प्रक्रिया (विकासवाद) के अनन्तर, अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों, अन्वेषणों एवं तथ्यपरक उपलब्धियों ने, परम्परागत मान्यताओं और विचारों को झकझोर कर, इसके नये आयाम उद्घाटित किए हैं । मनुष्य की समस्त शारीरिक प्रक्रिया को, अब वैज्ञानिक उपलब्धियों के आलोक में समझना आवश्यक हो गया है । मनुष्य की मानसिक संरचना को समझने में जेनेट, फ्रायड तथा युंग की असामान्य मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों से भी आगे, अनेक जटिल एवं रहस्यमय संवेदनाओं, आवेगों एवं सूक्ष्मतम भाव-स्थितियों के आकलन से, मानव-मस्तिष्क की अनेक उलझी हुई ग्रन्थियों को सुलझाने में सफलता प्राप्त हुई है । अब, यह स्पष्ट हो गया है कि मानसिक तथा शारीरिक प्रक्रिया, दोनों घनिष्ठतम रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । इस सम्बद्धता के कारण ही मनस्तत्वीय परिवर्तन और शरीर-विज्ञान सम्बन्धी परिवर्तन, दोनों एक निश्चित प्रणाली के अनुसार, सहगामी बनकर कार्य करते हैं । मानसिक प्रक्रिया, विभिन्न स्थितियों के अनुरूप ही, बाह्य जगत का अनुगमन करती है (दि न्यू साइकोलॉजी एण्ड इट्स रिलेशन टु लाइफ-ए० जी० टान्सले) ।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में, सिंग्मण्ड फ्रायड के अनुसार, अचेतन मन (ईड) की क्रियाशीलता, जिसमें काम-कुण्ठाओं (लिबिडो) की मूल-वृत्ति ही काम करती है, अभिव्यक्ति के रूप में, छद्म रूप से स्वप्न-चित्रों या कलाओं के रूप में प्रतिफलित होती है । अल्फ्रेड एडलर, अचेतन को ही समस्त भावनाओं का उद्‌गम मानते है और काम-कुण्ठाओं को, शक्ति-प्रदर्शन या इन्हीं भावनाओं का एक अंग मानते हैं । जुङ्ग, काम-कुण्ठाओं में उदात्त भावनाओं को भी स्थान देते हैं और यह मानते हैं कि काम-कुण्ठाओं में सभी प्रकार की भावनाओं का समावेश है ।रूसी मनोवैज्ञानिक पावलोव, प्रत्येक वस्तु को सम्बद्ध मानते हैं । उनके अनुसार, ज्ञान भी, परिवेश से प्रभावित होता है । इसलिए, किसी विषय पर विचार करते समय, जीवन की सापेक्षता को ध्यान में रखना पड़ेगा । सापेक्षित प्रत्यय (कन्डीशनल रिफ्लेक्शन्स) के अनुसार कला का सम्बन्ध सभी मानवीय विषयों से है । अब इन मनोवैज्ञानिक सूत्रों में भी नये प्रयोगों के कारण, नयी मान्यताएँ प्रतिपादित हुई हैं । अब वैचारिक क्रान्ति, आधुनिकता की परिभाषा बन चुकी है । फलतः नीत्शे, सार्त्र, कामू, काफ्का, कार्ल मार्क्स तथा कीर्केगार्द आदि अनेक विचारकों ने ईश्वर, धर्म, सामाजिकता, पारिवारिक रिश्ते, आर्थिक सिद्धान्त तथा व्यक्ति की क्रिया-शीलता पर अस्वीकृति के इतने चिन्ह लगा दिए हैं कि हर प्रबुद्ध व्यक्ति इन्हें स्वीकार करने में झिझकने लगा है ।

रसों में निहित विभिन्न मनःस्थितियाँ और उनका विस्तार

आज के युग की जटिलताओं को देखते हुए तो यही प्रतीत होता है कि हम रसों और भावों की 'आस्वाद्य' प्रक्रिया से बहुत दूर निकल आए हैं और अब, इस ओर झाँकना उसी तरह लगता है जैसे कोई ऐतिहासिक खंडहरों में विचरण करने का शौक रखता हो। क्या वास्तविकता यही है ? क्या काव्य और नाटक की आस्वाद्य प्रक्रिया को किसी नये आयाम से जोड़ देने में सफलता मिली है ?

यह तो निर्विवाद है कि रस की आस्वाद्य प्रक्रिया को, केवल इस आधार पर कि यह मनोविज्ञान के मापदंड पर खरी नहीं उतरती, अनुपयुक्त सिद्ध नहीं किया जा सकता। मनोविज्ञान से पृथक्, साहित्य-शास्त्र का, एक भिन्न आधार भी है और वह है समाज के बीच, व्यक्ति के अनुभवों अर्थात् उनकी संवेदनाओं और व्यवहारों की मानसिक और शारीरिक क्रियाशीलता। रस की प्रक्रिया, इसी आधार पर किसी रचना के आस्वाद की, व्यावहारिक समीक्षा के मापदंड निश्चित करती है।

भावों एवं रसों की प्रक्रिया में विभिन्न मनःस्थितियों को भी वर्गीकृत किया गया है—वे हैं, 'विकास', 'विस्तर', 'क्षोभ' और 'विक्षेप' जो मन की चार वृत्तियों अर्थात् 'मुदिता', 'मैत्री', 'करुणा' तथा 'उपेक्षा' की ओर भी इंगित करती हैं। इन वृत्तियों में, किसी को सुखी और प्रसन्न देखकर सुखी होना मुदिता, शुभ कार्य में योगदान और प्रोत्साहन मैत्री, किसी को दुःखी देखकर दुःखी होना करुणा तथा दुष्कृत्य के प्रति उपेक्षा भाव रखते हुए भी दुष्कर्म करने वाले से घृणा न करना उपेक्षा है। मनःस्थितियों में, अपने स्वार्थ से बाहर आकर किसी दूसरे व्यक्ति में रुचि लेना, मन की विकास अवस्था है। इस स्थिति के भाव है—रति और हास्य। विस्तर या मन के विस्तार में सामाजिकता व्यापक हो उठती है। इस स्थिति के भाव है—उत्साह और आश्चर्य। मनः स्थिति के संकुचन में भय और जुगुप्सा नामक भावों का स्थान है और मन के घात-प्रतिघात या विक्षेप की स्थिति को क्रोध और शोक का जन्मदाता माना जाता है। ये मनःस्थितियाँ, मनोविज्ञान के आधार पर नहीं बल्कि समाज में व्यक्ति के व्यवहारों को देखकर निश्चित की गई हैं।

कहा गया है कि नाट्यात्मक अनुभूति का काव्यात्मक अनुभूति की भाँति 'चेतना के गहन स्तरों से जुड़ा होना आवश्यक है, उसके बाह्य यथार्थ की नहीं, आत्मा के यथार्थ की, किसी निष्ठा की, किसी स्वप्न की अथवा किसी गहरे स्तर पर, उनकी अस्वीकृति की अभिव्यक्ति होनी चाहिए' (रंग दर्शन—लक्ष्मी चन्द्र जैन)।

इस नाट्यात्मक और काव्यात्मक अनुभूति के समीकरण में, रस पद्धति के विभावों का साधारणीकृत रूप एवं सामाजिकों-श्रोताओं की निर्वैयक्तिकता, आत्मा

के स्तर पर, रसास्वादन की प्रक्रिया का चर्वणा-काल अर्थात् अनुभूति से किसी गहरे स्तर पर जुड़ना आदि को ही, शब्दान्तर मात्र से प्रगट किया गया है। अत: रस के आस्वाद्य की प्रक्रिया अब भी विखंडित नहीं हुई है। अन्तर मात्र यह है कि किसी रस विशेष को दृष्टि में न रखकर, परिस्थितिजन्य सभी मनोविकारों का संश्लेषण होता है। वैचारिक अनुभूति भी किसी बिम्ब या प्रतीक के माध्यम से प्रत्यक्ष होकर, उसकी भोग दशा (चर्वणा) में उपस्थिति होती है।

यह नाट्यात्मक अनुभूति, दर्शक या श्रोता वर्ग (अर्थात् स्पेक्टेटर्स या आडियेन्स) में किस प्रकार कार्य करती है, इसे भी समझना आवश्यक है।

भीड़ और दर्शक-समूह का मनोविज्ञान

मंचीय प्रदर्शनों में एकत्रित समूह का एक अलग मनोविज्ञान होता है जिसे भीड़ का मनोविज्ञान कहते हैं। यही मनोविज्ञान, कवि सम्मेलनों में कविताओं को सुनने के लिए एकत्रित जन-समूह पर भी लागू होता है।

भीड़ में एकत्रित, जन-समूह का प्रत्येक व्यक्ति, अपने निज के व्यक्तित्व से पृथक हो जाता है। यहाँ विद्वान, मूर्ख, ग्रामीण तथा विभिन्न सामाजिक स्तरों के लोग, एक साथ मिलकर, समान स्थिति में होते हैं। भीड़ की विचार शक्ति, उसमें एकत्रित व्यक्तियों की व्यक्तिगत विचार शक्ति से अपेक्षाकृत बहुत कम होती है। वहाँ लोग क्षणिक पागलपन के दौर में होते हैं। उनकी तर्कशक्ति समाप्तप्राय हो जाती है। भावना के प्रवाह में वे लोग अबौद्धिक ढंग से उत्तेजना में होते हैं और कुशल वक्ता, भीड़ के मनोभावों को अपने अनुकूल कर लेता है। उसकी वक्तृता में, भावनाओं को उत्तेजित करने की क्षमता तो होती है किन्तु बौद्धिक समाधान उसमें नहीं होता। भीड़ की मनोवृत्ति, जो उत्तेजित अवस्था में होती है, अवास्तविक को भी वास्तविक मान लेने की होती है। उसे अवास्तविक में वास्तविक की भ्रान्ति होती है।

रंग मंच के प्रदर्शनों में एकत्रित भीड़, एक इकाई के रूप में होती है। वहाँ, उसे दर्शक की संज्ञा मिलती है। दर्शक समूह, एक इकाई के रूप में अपने अस्तित्व को भूलकर जिस बात से, रंगमंच की किसी घटना के रूप में प्रभावित हो सकते हैं व्यक्तिगत रूप से, रंगमंच से अलग सामान्य स्थिति में, उसे अस्वीकार भी कर सकते हैं। प्रदर्शन को देखते समय प्रत्येक दर्शक के व्यक्तित्व के दो खंड हो जाते हैं। उसे अपनी स्थिति का आभास तो रहता है किन्तु वह समस्त समूह की इकाई में शामिल भी रहता है। इसलिए, इतने बड़े समूह के अंश के रूप में, उसकी बौद्धिक

क्षमता, उसकी व्यक्तिगत बौद्धिक क्षमता से कम हो जाती है । वह भावनाओं से प्रभावित होता है, किन्तु भीड़ की भाँति नहीं । उसे यह भी आभास होता रहता है कि वह एक अवास्तविक स्थिति को वास्तविक मानकर उस पर विश्वास करने की भ्रमात्मक स्थिति में पहुँच रहा है । जबकि भीड़ की प्रवृत्ति, अवास्तविक को पूर्णतया वास्तविक मानकर, प्रतिक्रियात्मक होती है । दर्शक समूह के समक्ष भी, कभी-कभी भावावेश की स्थिति आ सकती है लेकिन भीड़ की भाँति यह स्थिति उत्तेजनात्मक नहीं होती ।

वर्तमान समय में 'रसाभिव्यक्ति' की सीमाएँ–रंगमंच और साहित्य के संदर्भ में

रस की प्रक्रिया के अन्तर्गत दर्शक-समूह (सामाजिक) को बौद्धिक तथा रसज्ञ वर्ग में रखा गया है । संस्कृत के नाटकों के रंगमंच, यूनानी रंगमंच से अपेक्षाकृत बहुत छोटे होते थे क्योंकि यहाँ के नाटकों में संवाद की अपेक्षा अभिनय की बारीकियाँ प्रमुख मानी जाती थीं । तब दर्शक-समूह की भी योग्यता निर्धारित थी । अत: रस-सिद्धान्त की अपनी पृष्ठभूमि है, अपना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य है । आज के सभी नाट्य प्रदर्शनों पर आरोपित करना एकांगी दृष्टि होगी । ऊपर दर्शक-समूह की जिस मानसिक प्रक्रिया की चर्चा की गई है वह नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों की व्याख्या का भी विषय रहा है साथ ही अभिनेता तथा सामाजिक वर्ग, प्रदर्शन के समय किस प्रकार प्रतिक्रिया (रिएक्ट) करते हैं, रस के भोगीकरण या चर्वण काल में वे कितना आत्म-विस्मृत या कितना अर्धजागृत अवस्था में होते है, इन सभी विषयों पर भी तर्क-वितर्क के रूप में विचार किया गया है ।

यद्यपि तब की भाँति अब भी नाटककार, अभिनेता, प्रेक्षागृह, प्रेक्षक आदि सभी एक साथ मिलकर, प्रदर्शन की समष्टि या समग्रता का बोध कराते हैं । वीरेन्द्र नारायण कहते हैं—आज के प्रदर्शन में, निर्देशक, अभिनेता और दर्शक को अच्छा नाटक, चेतना के कई स्तरों पर एक साथ झकझोरता है । सिर्फ भावनाओं का, सिर्फ हृदय का लक्ष्य कब का छूट गया है । आज का नाटक दर्शकों की अर्ध-चेतना से यह भी पूछता है कि ऐसा क्यों हुआ ? (कल्पना-१९६५) ?

आज भी कुछ आलोचक यह यह मानते हैं कि स्थायी भाव, एक भाव प्रणाली है जिसमें एक प्राथमिक तथा अनेक साधित भावों तथा सहचर भावों का संगठन रहता है । जिसमें वासना, मनोवेग, इन्द्रिय वेग, प्रवृत्तियाँ, अन्त:करण वृत्तियाँ, बुद्धि

व्यापार, संकल्प, इच्छा तथा शरीर व्यापार आदि उस भाव के शासन के भीतर रहते हैं (हिन्दी अनुशीलन जनवरी-मार्च, ६३ डॉ० रामलाल सिंह का लेख)।

रस पद्धति के अन्तर्गत इतनी गुंजाइश तो है ही कि सभी स्थायी भावों, व्यभिचारी भावों तथा अनुभावों के वर्गीकरणों एवं रसों की मानसिक दशाओं के विवेचन में, आज के साहित्य के संवेदनात्मक स्तरों को भी रखा जा सके। बशर्ते यह कि नयेपन के आवेश में हम पहले से ही आधुनिक साहित्य के लिए रस पद्धति को ही अपने चिन्तन से खारिज न कर दें। इसके साथ, इसे भी स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आज की परिस्थितियाँ; उन परिस्थितियों से भिन्न है जब रचनात्मक स्तर पर रस को महत्व दिया गया। किन्तु, रस की जो आस्वाद्य प्रक्रिया है वह मनोविज्ञान की प्रक्रिया से किस प्रकार भिन्न है, इसका भी परीक्षण होना चाहिए?

●

काहे को दीन्हों विदेस

(१)

सभी संस्कारों में विवाह की अर्थात् दाम्पत्य के प्रथम सोपान की, मनुष्य के जीवन में अनिवार्य एवं प्रभावी भूमिका है। दाम्पत्य ही वह केन्द्र बिन्दु है जिसके आधार पर, पारिवारिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की पृष्ठभूमि की संरचना होती है और दाम्पत्य की ही 'मृदुल-सरस' भाव-भूमि पर एक अनिर्वचनीय 'लालस-लालस' सुख सौन्दर्य की सृष्टि भी होती है। इसी से जीवन का रस-सरोवर उद्वेलित होता रहता है।

विवाह के गीतों में, लोकजीवन के पुराने आचार-विचार, रीति-नीति, विश्वास एवं मर्यादाएँ सुरक्षित हैं। सूक्ष्म संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भी इनमें पर्याप्त स्थान है। शृंगार, हास्य और करुण रस की त्रिवेणी से अभिषिक्त इन गीतों में, आधुनिक बौद्धिकता से प्रभावित कसैले मन को भी सरस-मधुर बनाने की अद्‌भुत क्षमता है। इन गीतों में, जो किञ्चित भाषायी और शैलीगत परिवर्तन के साथ पूरे उत्तर भारत में गाए जाते हैं, अधिकांशत: ग्राम्य जीवन की भाव-भीनी मुस्कान है। यह मुस्कान श्रम एवं संघर्ष के यथार्थ को स्पर्श कर फूटती है। दाम्पत्य प्रेम की इतनी स्वाभाविक, इतनी सूक्ष्म एवं इतनी व्यापक व्यंजना इन गीतों में है कि इसके सामने रस-सिद्ध कवीश्वरों का काव्यामृत भी फीका लगता है।

विवाह के गीत चाहे देश के जिस अंचल में गाए जाते हों—सबकी भाव-भूमि एक है, सृजनात्मक चेतना का प्रेरणा-बिन्दु भी एक है क्योंकि हमारे देश के विविध वैवाहिक अनुष्ठानों पर धर्म एवं परम्परा की पकड़ बहुत मजबूत है। उत्तर प्रदेश में विवाह के अवसर पर विभिन्न कृत्यों से सम्बन्धित जो गीत गाए जाते हैं उनमें क्षेत्रीय या भाषागत विभिन्नताओं के अतिरिक्त कोई अन्य विभिन्नता नहीं है। उत्तर-प्रदेश का मध्य-भाग अवधी भाषी क्षेत्र है। इस क्षेत्र में विवाह के अवसर पर जो गीत गाए जाते है उनका भावनात्मक चित्र-फलक अत्यन्त विस्तृत है। वैवाहिक कृत्य का सभारंभ स्तुति-गीतों से होता है फिर मटिमगरा (माटी खनाई),

सिलपोहना, नेहछू, नहान, भँवरी, सिन्दूरदान, पाणिग्रहण, कोहबर, जेवनार तथा विदाई आदि के अनेक गीतों के साथ इसका समापन होता है। इसी क्रम में सोहाग, घोड़ी, बन्ना-बन्नी, जोग तथा कुछ अन्य गीत भी है जो विवाह के शृंगार प्रधान स्वरों को मुखरित करते हैं। विवाह के इन सभी प्रकार के गीतों में, केवल घोड़ी, बन्ना-बन्नी तथा सोहाग आदि कुछ गीतों को छोड़कर, प्राय: एक ही छन्द प्रयुक्त होता है जो पैंतीस या सैंतीस मात्राओं का होता है। इन्हीं के साथ वर तथा कन्या पक्ष के विवाह-गीत अलग-अलग भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं।

कन्या-पक्ष के विवाह के गीतों में महत्वपूर्ण भाव-संकुल स्थितियाँ तीन हैं—लगन, विवाह तथा विदाई। पहली स्थिति चिन्ता एवं वितर्क की, दूसरी हर्ष एवं ममत्व की तथा तीसरी करुणा के तीव्र आलोड़न की है। विवाह संस्कार की मूल भावना तो शृंगारिक है किन्तु विवाह सम्बन्धी अनुष्ठानों में जो गीत गाए जाते हैं उनमे यथावसर किंचित हास-परिहास को छोड़कर, कहीं भी शृंगारिक चर्चा नहीं है। पूरा वातावरण विछोह और करुणा का है। बार-बार गीतों में यह बात दोहराई जाती है कि कन्या एक अपरिचित व्यक्ति को सौंपी जा रही है, वह अपने माँ-बाप का घर छोड़कर, हमेशा के लिए विदेश जा रही है। इसी एक भाव में नारी-जीवन की सारी करुणा मानो सिमट आई है।

(२)

कन्या अथवा वर के लिए समान रूप-गुण-सम्पन्न जीवन-साथी की तलाश वैवाहिक कृत्य का प्रारम्भिक किन्तु महत्वपूर्ण कार्य है। कन्या के अनुरूप वर की तलाश में सम्बन्धियों एवं स्वजनों का मानक एक नहीं होता—

> कन्या मृगयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम्
> बान्धवा: कुलमिच्छन्ति मिष्ठान्नमितरे जना:।

कन्या के लिए रूपवान पति, कन्या की माँ के लिए सम्पन्न परिवार, कन्या के पिता के लिए विद्वान एवं बहुश्रुत दामाद, बन्धु-बान्धवों के लिए अच्छा खानदान एवं शेष लोगों के लिए अच्छे स्वागत-सत्कार की अपेक्षा होती है। उसी प्रकार वर के लिए विभिन्न अपेक्षाओं के अनुकूल रूप-गुण-सम्पन्न सहधर्मिणी की आवश्यकता होती है। जन-मानस की व्यापक आत्मीयता के अनुरूप यहाँ पशु-पक्षियों को भी स्वजन ही माना गया है। विवाह के गीतों में तोता, कोयल, परेवा, हंस तथा काग आदि की विशेष चर्चा है। कोयल, कबूतर तथा हंस आदि का प्रतीकात्मक प्रयोग भी लोक-गीतों में हुआ है। कन्या के अनुरूप वर की तलाश का कार्य तोते को ही सौंपा जाता है क्योंकि वही सर्वाधिक विश्वसनीय है। 'पद्मावत' का हीरामन तोता तो प्रसिद्ध ही है अनेक लोक कथाओं में भी प्रचलित

परम्परा के अनुसारं वर और कन्या दोनों पक्षों को एक-दूसरे के निकट लाने का कार्य तोता ही करता है । कौवे का कार्य, किसी प्रियजन अथवा अतिथि के आगमन की सूचना देना अथवा भविष्य के किसी मांगलिक कृत्य के निर्विघ्न सम्पन्न होने के सम्बन्ध में 'सगुन' बताना है । इसीलिए कौवा भी लोक-समाज का अत्यन्त प्रिय पक्षी है ।

निम्न गीत में तोते को कन्या के अनुरूप वर की तलाश का काम सौंपा गया है—

"हे सुगना, मैंने सावन में तुम्हें घी-गुड़ खिलाकर पाला और चैत में चने की दाल । अब तुम वयस्क और समझदार हो गए हो इसलिए कन्या के योग्य वर की तलाश के लिए जाओ । उड़ते-उड़ते यहाँ से दूर चले जाना, किसी पेड़ की डाल को झुकाकर बैठ जाना ।अपने पंखों को फुला लेना और चारों ओर दृष्टि दौड़ाना । हे सुगना, जिसको तुम सुन्दर देखना, जिसकी चाल गम्भीर हो, जिसके घर, सम्पत्ति हो उसी को कन्या के योग्य समझना ।" अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

जे के रे सुगना तू देखउ सुन्दर जेकर चाल गँभीर,
जेहि घर सुगना सम्पति देखेउ वोहि घर रचेउ बियाह ।

कन्या के अनुरूप वर की प्राप्ति मात्र संयोग और भाग्य पर निर्भर है । एक गीत में कन्या कहती है—"बाबा, खूब सुन्दर वंर देखकर मेरा ब्याह करना । मैं तीनों लोकों में सबसे अधिक सुन्दर हूँ, मेरी हँसी न कराना ।" पिता अपनी असमर्थता और भाग्य की प्रबलता का उल्लेख करते हुए कहता है—

उसरा मैं गोड़ि-गोड़ ककरी बोवायउ न जानौ तीत कि मीठ ।
देसवा निकरि बेटी तोर बर हेरेउं न जानौ करम तोहार ।

सामाजिक विषमता, वर-पक्ष की अर्थ-लिप्सा तथा परम्परागत दहेज के दानव ने, रूप-गुण-सम्पन्न लड़कियों के विवाह को भी कष्टसाध्य एवं समस्याक्रान्त बना दिया है ।अच्छा घर और अच्छा वर मिलना भाग्य का चमत्कार है । एक गीत में लड़की का निर्धन पिता निवेदन करता है—

"पंचो, मैं कुश-कन्या के साथ वर के पाँव पखारना चाहता हूँ (क्या कोई उस दशा में मेरी बेटी को स्वीकार करेगा) ।" वह एक वन में गया, दूसरे वन में गया और तीसरे वन में (भी कन्या के योग्य वर को न पाकर घर लौटकर) हाहाकार करने लगा । "मेरे बाबा, आँसू क्यों चू रहे हैं, पटुका क्यों भींज रहा है ? मुख धूमिल क्यों हैं, जी को कौन सी व्यथा सता रही है ?" कन्या (अपने पिता की व्यथा को जानकर) पुन: कहने लगी—"मैं चुटकी भर सेंदुर नहीं लूँगी, मैं क्वाँरी ही रहूँगी ।

माई की गोद में सिर रखकर सो जाया करुँगी, भौजी की सेवा-टहल करूँगी। मैं भाई का छत्र (उसका गवोन्नत मस्तक) नीचा नहीं होने दूँगी। हे बाबा, तुम्हारी पाग भी धूमिल नहीं होगी।"

इस गीत की अन्तिम पंक्तियाँ हैं—

माई कऽ कोछवा सीस धरि सोउब भउजी गोहनवा रहब लागि।
बिरना क छतरी तरे नहिं होइहइ नाहीं धूमिल पगिया तोहार।

इसके विपरीत एक अन्य गीत में, नीले घोड़े पर सवार सुन्दर दामाद को देखकर माँ का हृदय इतना उल्लसित हो उठता है कि वह सोचने लगती है—'यदि दस कन्याएँ होतीं तो कितना अच्छा होता। ऐसा दामाद तो भाग्य से ही मिलता है।' विवाह हो गया। कन्या के सिर में सिन्दूर पड़ गया। नौ लाख का दहेज भी वर-पक्ष को कम लगा। इस पर बेचारी कन्या की माँ नाराज होकर भीतर के बर्तन बाहर पटकते हुए कहने लगी—"भगवान् कन्या शत्रु को भी न दे।"

होइग बियाह पड़ा सिर सेंदुर नौ लख दायज थोर
भितरा का भांड बाहर दइ मारेहँ सतरु के धिया जनि होइ।

(३)

लगन पड़ जाने के बाद विवाह के अन्य लोकाचार प्रारम्भ हो जाते हैं। एक गीत में न्यौता देने का कार्य कोयल को सौंपा जाता है। बहू कहती है—

"हे काली कोयल, मेरे आँगन में आओ, आज तो मेरे यहाँ पहला विवाह पड़ा है, जाकर न्यौता दे आओ। सभी स्वजनों को, परिजनों को, माँ के नैहर अर्थात् मेरे ननिहाल में सब जगह न्यौता दे आओ। केवल मेरे भाई को न्यौता न देना, मैं उनसे रूठी हूँ।" बहू देखती है कि सास अपने बीरन (भाई) को भेंट रही है, ननद भी अपने भाई को भेंट रही है। वह दुखी होकर फिर कहती है—"हे कोयल, मेरी छाती फटी जा रही है, मैं किसको दौड़कर भेंटूँ? अरे, काली कोयल, जल्दी जाओ, भाई और भाभी रानी को न्यौता दे आओ। आज ही पहली चौक है। चौक (अनुष्ठान के लिए वस्त्रादि) नहीं आएगी तो यह अनुष्ठान कैसे पूरा होगा?"

कोइलरि फेरि ते नेवतेउ बीरन अउर भउजी रानी हो
कोइलरि आज मोरे पहिलि चउकिया चौक नहि आवइ हो।

नेवता के बाद ही माटी खनाई, सिलपोहना, नेहछू तथा नहान आदि अवसरों पर अनुष्ठान के अनुकूल बहुत से गीत गाए जाते हैं जिनमें पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की अनेक झलकियाँ होती है, जिनका भावनात्मक स्पर्श मन को आलोकित कर देता है और जिनकी स्वर-लहरी वातावरण में धुलकर आस-पास के पूरे परिदृश्य को अटूट आत्मीयता से जोड़ देती है। विवाह के गीत भी इन

गीतों के साथ ही बीच-बीच में बराबर गाए जाते हैं। इनमें वर-पक्ष अथवा कन्या-पक्ष से सम्बन्धित अनेक बातें होती हैं। कन्या-पक्ष वाले गीतों में कन्या के बिछुड़ने का दर्द, वर-पक्ष का अर्थ-लोभ, निर्धन माँ-बाप की बेबसी, आदि के साथ-साथ हास-परिहास का स्वर भी सम्मिलित रहता है। वर-पक्ष के गीतों में हर्ष और उल्लास ही अधिक रहता है जिनमें विनोद-हास्य की फुहार बराबर चलती रहती है। इन गीतों की अर्थ-ध्वनियाँ न जाने कितने संदर्भों को स्पर्श करती हैं। कन्या-पक्ष के एक गीत में धनवान बाप, लड़की को (प्रकारान्तर से चिढ़ाने के लिए) बताता है कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद उसे निर्धन दामाद मिला है। बेटी यह सुनकर बहुत नाराज हो जाती है—

"बाबा, मैं पंडित के वेद में आग लगा दूँगी, स्वयं फाँसी लगा लूँगी। यदि ऐसा ही करना था तो मुझे जन्मते ही पत्थर के नीचे क्यों नहीं दबा दिया? तुम्हारे जी में 'विरोग' तो न होता।" बाप कहता है—"बेटी फाँसी क्यों लगाओगी, तुम्हें दु:ख किस बात का है? मैं सात समुद्र के रत्न दे दूँगा। मेरा दामाद राज करेगा।"

काहे क मोर बेटी फंसिया लगावउ
काहे क जियरा विरोग,
सात समुन्दर रतन हम देबइ
विलसइ राज दमाद।

द्वार पर बारात आ गई है। पति-पुत्र से उपेक्षित माँ आँगन में खड़ी है। उसके नेत्रों से नीर चू रहा है। वह चिन्ता में डूबी हुई है—"हाय, अब बरात की अगवानी के लिए कौन जाएगा? द्वार-पूजा कैसे होगी? मेरे पति पूर्व दिशा में व्यापार करने गए हैं। पुत्र जंगल में शिकार खेलने गया है। गाँव के लोग मेरे दरवाजे आएँगे नहीं। एक पुरुष के बिना सारा कार्य रुका हुआ है।"

पियवा त गए मोर पुरब बनिजिया, पुतवा खेलइ अहेर,
गंउना के लोगवा दुअरवा न अइहैं, एक पुरुष बिन मोर।

कन्या को पराया व्यक्ति लेकर चला जाता है। सारा परिवार, सारे गाँव के लोग खड़े देखते रह जाते हैं। इस तथ्य को लोक-चेतना ने बड़ी करुणा के साथ ग्रहण किया है। कन्या के पराई हो जाने की व्यथा को अनेक प्रकार से, अनेक शब्द-चित्रों एवं बिम्बों के माध्यम से, अनेक गीतों में, अनेक संदर्भों के साथ प्रगट किया गया है।

माँ ने (पानी भरने के लिए) जब बेटी को सोने का घड़ा दिया तब बाबा ने उसे आँख तरेर कर देखा—"सागर (सरोवर) में, पानी भरने न जाओ, मेरी बेटी, वहाँ एक मस्त हाथी खड़ा है।" बेटी रुकी नहीं, घाट के किनारे घड़ा रख दिया और चीर (साड़ी) खोलकर नहाने बैठ गई—"अरे, तुम किसके 'उलरू-दुलरू' हो?

किस बहिन के भाई हो ? अपना हाथी पीछे हाँक लो जिससे चीर संभाल कर पहन लूँ ।"

"मैं अपने बाबा (पिता) का उलरू-दुलरू (स्नेह-पात्र) हूँ । अपनी बहिन का भाई हूँ । अपना हाथी तो सामने ही धँसाऊँगा, तुमको भी बैठा लूँगा । (बेटी के 'हे भाई' कहने पर) भइया, भइया मत कहो, तुम तो हमारी धनिया (पत्नी) हो ।" धोबी झीना कपड़ा धो रहा है । अहिर गाय चरा रहा है । ऐसे नगर के लोग गभेरु (गंभीर प्रकृति के) हैं । कोई भी गोहार नहीं लगता ।

"भाई क्या करें, बाबा क्या करें, गाँव के लोग भी क्या करें ? हे बेटी, जिसके साथ तुम्हारा ब्याह हुआ है वही तुम्हें लिए जा रहा है ।"

का करै भइया रे का करै बाबा रे का करइं गवना के लोग,
जेकरा बेटी तु बारी-बियाही सेइ लिवाए जाइ ।

विवाह के गीतों में ऐसे न जाने कितने प्रसङ्ग है । इन गीतों की अर्थध्वनि बहुत दूर तक ले जाती है । एक अन्य गीत है जिसमें, पति के द्वारा किञ्चित तिरस्कार का बोध होते ही, नववधू नैहर चली जाती है । आशय यह है कि पराए घर में रहकर भी, नववधू पति के आदर और सम्मान की अधिकारिणी है ।

"मेरे घर के पीछे लौंग का पेड़ है । आधी रात को लौंग चूता है । लौंग का पेड़ कटवाकर बाबा ने पलँग बनवाया । रेशम की डोर लगवाई । उसीपर दूल्हा और दुल्हिन दोनों लेटे हैं । दोनों कसमसाते हैं, रहा नहीं जाता । "ए ससुर जी की बेटी, जरा उधर खिसको, मेरा जोड़ा धूमिल हो रहा है ।" इतनी बात सुनते ही दुल्हिन पिछौरा झाड़कर उठ खड़ी हुई—"ससुर जी के बेटे, लो, सुख की नींद सोओ, मैं अपने नैहर चली जाती हूँ ।" कोट के कोतवाल ने रोका, घाट के घटवार ने रोका । नदी के किनारे एक स्त्री पुकारती है—"मल्लाह नाव ले आओ" "भउजी, आज की रात मेरे यहाँ रह जाओ, सबेरे पहुँचा दूँगा ।" "ऐ केवट, भउजी-भउजी मत कहो, तू तो मेरा भाई है । मैं केवल एक वचनं, एक बोल पर, पति को सेज पर सोता छोड़ आई हूँ ।" नदी के किनारे गूलर का एक पेड़ है जिसकी डाल फैलकर दूसरे किनारे तक चली गई है । गोरी, डाल पकड़ कर नदी पार कर जाती है । केवट दोनों हाथ मलता ही रह जाता है ।

नदिया तीरे एक गुलरी क पेड़वा, डरिया छिछिड़ गई पार
डरिया पकरि गोरी पार उतरि गई केवटा मलइ दुनउ हाथ ।

(४)

विवाह के अवसर पर भाँवर और कन्यादान के गीत करुणा का अधिक संचार करते हैं । एक कन्या, दान में दी जा रही है । एक पराया अजनबी, एक चुटकी

सेंदुर डालकर, सात बार भँवरी फिरकर, उसे अपने साथ लिए जा रहा है। उसे अपने पिता का घर छोड़ना पड़ रहा है। अपनी सखियों को, अपनी गुड़ियों के खेल को छोड़कर जाना पड़ रहा है। इन्हीं भावनाओं के साथ करुण वातावरण की सृष्टि होती है। भाँवर पड़ रही है। भाँवर के गीत में हर भाँवर के लिए अलग-अलग पंक्तियाँ हैं। छठीं भाँवर तक तो कन्या अपनी रहती है, अपने घर की, अपने पिता की होती है। सातवीं भाँवर के बाद कन्या को पराई घोषित कर दिया जाता है—

सतईं भँवरिया जब फिरैं बाबा अब भइ कन्या पराइ
बँहिया पकरि बइठावइं दुलहे राम अब लागउ रनिया हमार।

सिन्दूर-दान या 'माँग भराई' की रस्म सोहाग का प्रतीक होने से महत्वपूर्ण मानी जाती है। एक पुरुष कन्या की माँग में सिन्दूर भर रहा है, कन्या पराई होती जा रही है। कन्या अपने पिता को पुकारती है, भाई को पुकारती है। कोई नहीं बोलता। वह तो वन में फूली, रूप की खान, बेले की लता है। माली रूपी वर उसे छूना चाहता है। पिता जब संकल्प कर उसे दान दे देंगे तभी तो वह उसकी बन पाएगी।

बनवा में फूली बेइलिया अतिहि रूप आगर
मलिया त हथवा पसारै तू होहि जा हमार।
जनि छुओ ऐ माली जनि छुओ अबही कुमारि
आधी रात फुलहीं बेइलिया त होब तोहार।
जनि छुओ ऐ दुलहा जनि छुओ अब ही कुमारि
जब मोरे बाबा संकल्पैं त होबै तोहार।

भाँवर और सिन्दूर-दान की तरह कन्यादान की रस्म भी करुणाजनक ही है। इसमें भी कन्या को अकस्मात् दूसरे को सौंपे जाने की करुणा है। कन्यादान के अवसर पर भाई शोक प्रगट करते हुए कहता है—"अभी तक तो चाँद-सूरज पर ग्रहण लगता था अब, मेरी बहिन पर ग्रहण लग गया है। दान करते हुए मेरी छाती फटी जा रही है, हे बहिन, तुम्हारा दान मैं कैसे करुँ ?"

चाँद-सुरुज गरहन जग पर लागइ बहिन गहन अब लागि
दान करत बहिनी छतिया मोर फाटत कइसे करउं तोर दान।

(५)

बन्ना-बन्नी, घोड़ी, जोग तथा टोना आदि सब लोकाचारपरक गीत हैं। इनमें शृंगार-हास्य के साथ वर और कन्या की रूप-छबि, सम्पन्नता आदि का उल्लेख विशेष रूप से मिलता है। 'जोग' कुछ भिन्न है। जोग का अभिप्राय कन्या को कुछ ऐसी युक्ति सिखाने से है जिससे वह सदैव वर को अपने वश में रख सके। पराए

घर में जाने वाली कन्या को कुछ 'जोग-जुगुति' तो आना ही चाहिए। नहीं तो निर्वाह कैसे होगा?

"मैंने काले कौवे का पंख मँगाया, भूरी बिल्ली की आँख मँगाई। उरहुर चिड़िया की जीभ तथा भेड़ का माँस मँगा लिया। ताबीज बनाकर दूल्हे की बाँह में बाँध दिया है।" इसी गीत में आगे कहा गया है कि "मैंने दूल्हें को बाँधकर ड्योढ़ी पर बैठा दिया है। वह झुक-झुककर सलाम करने लगा है।... सातवें सलाम पर वह स्वयं मेरा गुलाम बन गया है। वह मेरी धोती साफ करता है, केश सँवारता है, सेज बिछाता है, हार मँगाता है, बीड़ा जोड़ता है तथा मेरे अंगों में इत्र लगाता है।"

बाँधि बाँधि दूलहे को डेहरी बैठायों झुकि-झुकि करइ सलाम
पहिला सलाम मोर मनही न भावै दुसरा सलाम मोरे बाबा क गुलाम।

* * * *

सातवें सलाम बन्ना मोर गुलाम रे धोतिया पखारे संवारे केश
सेजिया लगावै, हरवा मँगावै, बिरवा जुड़ावै लगावै फुलेल।

शृंगार-विनोद की योजना तो प्राय: गीतों में यहाँ-वहाँ मिलती है किन्तु कन्यादान और भाँवर के बाद कोहबर की रस्म शृंगार-विनोद के लिए ही है। इस अवसर पर नाइन जहाँ अनेक लोकाचार और टोटके करवाती है वहाँ अपने हाव-भाव और संकेतों से वातावरण को रसमय बनाए रखती है।

एक गीत में वर नाइन से पूछता है—"मेरी कामिनी कौन है? मेरी सास कौन है? मेरी सरहज कौन है?"

"जिसने हाथ रंगा है और बत्तीसों दाँत रंगा है। जो सुहाग की मादकता में सारी रात जागी है वही तुम्हारी कामिनी है। जो सोने के थाल में आरती सजा रही हैं वे तुम्हारी सास हैं। जो पान-फूल से सेज बिछा रही है वे तुम्हारी सरहज हैं।"

हाथ जे रंगेनि गोड़ जे रंगेनि रंगे है बत्तीसों दांत
सारी राति जागी सोहाग क मातल ऊहइ धनिया तोहार।

—आदि

वर, सरहज को बुलाता है। नववधू की ओर इशारा करके कहता है—"तुम्हारी ननद तो खड़ी मुरझा रही है।" सरहज, ननद को इशारा करती है—"भँवरे जैसे पति को पंखा हाँको।" ननद नाराज हो जाती है—"हे भौजी, धूर्तता न करो। भैय्या को जाकर सिखाओ। भौजी, जैसे फुलवारी में फूल खिलता है तो भँवरा चुपचाप रस-पान करता है। वैसे ही तुम्हारे ये ननदोई हैं। मुस्कुराते हैं, परिहास करते हैं, मेरे हाथ से पान का बीड़ा नहीं लेते।"

सेंदुर डालकर, सात बार भँवरी फिरकर, उसे अपने साथ लिए जा रहा है। उसे अपने पिता का घर छोड़ना पड़ रहा है। अपनी सखियों को, अपनी गुड़ियों के खेल को छोड़कर जाना पड़ रहा है। इन्हीं भावनाओं के साथ करुण वातावरण की सृष्टि होती है। भाँवर पड़ रही है। भाँवर के गीत में हर भॉवर के लिए अलग-अलग पंक्तियाँ हैं। छठीं भाँवर तक तो कन्या अपनी रहती है, अपने घर की, अपने पिता की होती है। सातवीं भाँवर के बाद कन्या को पराई घोषित कर दिया जाता है—

सतईं भँवरिया जब फिरैं बाबा अब भइ कन्या पराइ
बँहिया पकरि बइठावइं दुलहे राम अब लागउ रनिया हमार।

सिन्दूर-दान या 'माँग भराई' की रस्म सोहाग का प्रतीक होने से महत्वपूर्ण मानी जाती है। एक पुरुष कन्या की माँग में सिन्दूर भर रहा है, कन्या पराई होती जा रही है। कन्या अपने पिता को पुकारती है, भाई को पुकारती है। कोई नहीं बोलता। वह तो वन में फूली, रूप की खान, बेले की लता है। माली रूपी वर उसे छूना चाहता है। पिता जब संकल्प कर उसे दान दे देंगे तभी तो वह उसकी बन पाएगी।

बनवा में फूली बेइलिया अतिहि रूप आगर
मलिया त हथवा पसारै तू होहि जा हमार।
जनि छुओ ऐ माली जनि छुओ अबही कुमारि
आधी रात फुलहीं बेइलिया त होब तोहार।
जनि छुओ ऐ दुलहा जनि छुओ अब ही कुमारि
जब मोरे बाबा संकल्पैं त होबै तोहार।

भाँवर और सिन्दूर-दान की तरह कन्यादान की रस्म भी करुणाजनक ही है। इसमें भी कन्या को अकस्मात् दूसरे को सौंपे जाने की करुणा है। कन्यादान के अवसर पर भाई शोक प्रगट करते हुए कहता है—"अभी तक तो चाँद-सूरज पर ग्रहण लगता था अब, मेरी बहिन पर ग्रहण लग गया है। दान करते हुए मेरी छाती फटी जा रही है, हे बहिन, तुम्हारा दान मैं कैसे करूँ ?"

चाँद-सुरुज गरहन जग पर लागइ बहिन गहन अब लागि
दान करत बहिनी छतिया मोर फाटत कइसे करउं तोर दान।

(५)

बन्ना-बन्नी, घोड़ी, जोग तथा टोना आदि सब लोकाचारपरक गीत हैं। इनमें शृंगार-हास्य के साथ वर और कन्या की रूप-छबि, सम्पन्नता आदि का उल्लेख विशेष रूप से मिलता है। 'जोग' कुछ भिन्न है। जोग का अभिप्राय कन्या को कुछ ऐसी युक्ति सिखाने से है जिससे वह सदैव वर को अपने वश में रख सके। पराए

घर में जाने वाली कन्या को कुछ 'जोग-जुगुति' तो आना ही चाहिए। नहीं तो निर्वाह कैसे होगा?

"मैंने काले कौवे का पंख मँगाया, भूरी बिल्ली की आँख मँगाई। उरहुर चिड़िया की जीभ तथा भेड़ का माँस मँगा लिया। ताबीज बनाकर दूल्हे की बाँह में बाँध दिया है।" इसी गीत में आगे कहा गया है कि "मैंने दूल्हें को बाँधकर ड्योढ़ी पर बैठा दिया है। वह झुक-झुककर सलाम करने लगा है।... सातवें सलाम पर वह स्वयं मेरा गुलाम बन गया है। वह मेरी धोती साफ करता है, केश सँवारता है, सेज बिछाता है, हार मँगाता है, बीड़ा जोड़ता है तथा मेरे अंगों में इत्र लगाता है।"

बाँधि बाँधि दूलहे को डेहरी बैठायों झुकि-झुकि करइ सलाम
पहिला सलाम मोर मनही न भावै दुसरा सलाम मोरे बाबा क गुलाम।

* * * *

सातवें सलाम बन्ना मोर गुलाम रे धोतिया पखारे संवारे केश
सेजिया लगावै, हरवा मँगावै, बिरवा जुड़ावै लगावै फुलेल।

शृंगार-विनोद की योजना तो प्रायः गीतों में यहाँ-वहाँ मिलती है किन्तु कन्यादान और भाँवर के बाद कोहबर की रस्म शृंगार-विनोद के लिए ही है। इस अवसर पर नाइन जहाँ अनेक लोकाचार और टोटके करवाती है वहाँ अपने हाव-भाव और संकेतों से वातावरण को रसमय बनाए रखती है।

एक गीत में वर नाइन से पूछता है—"मेरी कामिनी कौन है? मेरी सास कौन है? मेरी सरहज कौन है?"

"जिसने हाथ रंगा है और बत्तीसों दाँत रंगा है। जो सुहाग की मादकता में सारी रात जागी है वही तुम्हारी कामिनी है। जो सोने के थाल में आरती सजा रही हैं वे तुम्हारी सास हैं। जो पान-फूल से सेज बिछा रही है वे तुम्हारी सरहज हैं।"

हाथ जे रंगेनि गोड़ जे रंगेनि रंगे है बत्तीसों दांत
सारी राति जागी सोहाग क मातल ऊहइ धनिया तोहार।

—आदि

वर, सरहज को बुलाता है। नववधू की ओर इशारा करके कहता है—"तुम्हारी ननद तो खड़ी मुरझा रही है।" सरहज, ननद को इशारा करती है—"भँवरे जैसे पति को पंखा हाँको।" ननद नाराज हो जाती है—"हे भौजी, धूर्तता न करो। भैय्या को जाकर सिखाओ। भौजी, जैसे फुलवारी में फूल खिलता है तो भँवरा चुपचाप रस-पान करता है। वैसे ही तुम्हारे ये ननदोई हैं। मुस्कुराते हैं, परिहास करते हैं, मेरे हाथ से पान का बीड़ा नहीं लेते।"

जैसेइ फूल फूलै फुलवरिया भँवरा रहसि रस लेइ
वैसेइ भउजी तोर ननदोइया बिहँसत बिरवा न लेइ ।

(५)

विवाह का अन्तिम और करुणतम प्रसङ्ग है—विदाई । इस अवसर के गीतों में इतनी करुणा है कि सभी द्रवित हो उठते हैं । लड़की विदाई के समय माता, पिता, भाई, कुटुम्बी तथा परिजन सभी दुःख से कातर हो उठते हैं । कन्या विदेश जा रही है । एक अपरिचित घर में जा रही है । पता नहीं क्या हो ? कैसा बीते ? यह तो नहीं कहा जा सकता कि सब अच्छा ही अच्छा होगा । यही सब सोचकर सबके चेहरे विषाद से मुरझाए हुए हैं । सबकी आँखें डबडबा आई है । गीत में कहा गया है—"बेटी की बोल बड़ी भली है । वह पिता का घर छोड़कर, वन की कोयल की भाँति ससुराल रूपी बाग में जा रही है—

जइसे बना की कोयलिया उड़ि बागा गईं फुलवरिया गईं
तइसे बाबा घर छोड़िके अब ससुरे गईं ससुररिया गईं ।"

भाई रास्ता रोकता है । बहिन कहती है—"बाबा ने लगन रखी है, अम्मां ने साज-शृंगार करवाया है । मुझे जाने दो, भैया, अब मैं 'काज-परोजन' ही आ सकूँगी ।"

"कहाँ का हंस कहाँ उड़ जाता है । लड़की साजन के घर चली जाती है । उठो बेटी, शृंगार कर लो, तुमको बड़े सबेरे ही चलना होगा । बेटी, आज दूध-भात खा लो । कल से कलेवा भी दुर्लभ हो जाएगा—

कँहवा क हंसा कहाँ उड़ि जाइ कँहवा क घेरिया कहाँ चली जाइ
पूरब क हंसा पच्छिम उड़ि जाइ नैहर क धेरिया सजन घर जाइ ॥"

* * * *

उठउ बेटी उठउ करउ सिंगार रे तोहरा चलावा बड़ भिनसार रे
खाइ लेऊ खाइ बेटी आजु दूध-भात रे, आजु से कलेउना दुर्लभ होइ जाइ रे ।

"हे माई, हम दोनों भाई-बहिन एक ही कोख से जन्मे हैं । एक साथ दूध पिया है । बाबा ने भइया को लाल चौक दे दी है । बेटी को बनवास लिख दिया है—

भइया-बहिनि दुनऊ इक कोखि जनमेनि एकइ संग पियेउ है दूध
भइया के लिखेउ बाबा लाल चउकिया बेटी के लिखिउ बनवास ।"

इसी प्रकार विदाई का एक प्रचलित गीत है जिसमें कन्या के मन की व्यथा गीत के रूप में फूट पड़ी है—

"हे बाबुल, तुमने मुझे 'विदेस' क्यों दिया? भैया को तुमने ऊँची अटारी दी और मुझे परदेश। हे बाबुल, मैं तो तुम्हारे आँगन की चिड़िया जैसी हूँ, दाना चुगते-चुगते उड़ जाती हूँ। तुम्हारे खूँटे पर बँधी गाय हूँ, जहाँ भेज देते हो वहाँ चली जाती हूँ।" "माँ के रोने से धरती फट रही है। बाबा के रोने से आकाश फटा जा रहा है। भाई बीरन के रोने से जल की धारा फूट पड़ी है। केवल भउजी का चित्त प्रसन्न है।" चार कहारों ने मिलकर डोली उठा ली है। बाबुल विलाप कर रहे हैं। "हे बाबुल, हे वीरन मुझे जल्दी बुला लेना। मैं परदेश में नहीं रहूँगी।"

काहे को दीन्हेउ विदेस रे सुन बाबुल मोरे
भइया को दीन्हो बाबुल ऊँचो अटरिया हमके दीन्हो है विदेस।

* * * *

चार कहार मिलि डोलवा फँदावैं, बाबुल करत विलाप रे
ऐ हो बाबुल-बीरन हमके बुलायो हम न रहब परदेस।

इस प्रकार विवाह के गीतों में शृंगार, हास्य तथा करुण रस की त्रिवेणी पुरातन काल से, सुख-दुःख की सरल भावाभिव्यक्ति के साथ जन-जीवन को सरस-सिक्त करती चली आ रही है।

लोक-गीतों में बेला—दाम्पत्य और प्रेम का प्रतीक

लोक-गीतों में जिन फूलों की अधिक चर्चा है उनमें कमल, गुलाब, बेला, गेंदा, चमेली और चम्पा आदि में बेला का स्थान शीर्षस्थ है। कमल पुष्पों का सम्राट है.... ग्राम्य जीवन में, लोक-गीतों की जो पगदंडी है, उस पर सम्राट का पदार्पण नहीं हो सकता। यद्यपि कमल गाँवों में—तालाबों में खिलता है फिर भी उसकी जीवन-यात्रा नगराभिमुखी है। काव्य-जगत में उसकी प्रतिष्ठा है। एक ऐसा उपमान जिससे अंग-प्रत्यंग की तुलना की जा सकती है। अनेक पर्याय है उसके। तुलसीदास ने राम के रूप-वर्णन में कमलों का ढेर लगा दिया है—'नव कंज-लोचन कंज-मुख कर-कंज पद-कंजारुणम्।' सीता की मृग शावक दृष्टि से भी सफेद कमलों की पंक्ति बन जाती है—

'जँह बिलोकि मृग-सावक नैनी,
तँह जनु बरसि कमल सित-स्रेनी।'

गुलाब विदेशी है, आयातित है। लोक-जीवन में कभी-कभी अपनी झलक दिखा जाता है—विशेषतया अपने रंग तथा कोमलता के आकर्षण के लिए इसे याद कर लिया जाता है—

सवा लाख क लहंगा हो साढ़े नौ क बुलाक....
पहिरन वाली छबीली हो मुख चुवै गुलाब।

कहीं-कहीं आम्र-मंजरी और सेमल के फूलों की भी चर्चा की गई है—'बगिया के खाले लाल सेमर क फुलवा, चमकइ सोहागिन क मंगिया हो रामा।' चम्पा का नाम तो बहुत आता है लेकिन इसके प्रति उपेक्षा का भाव ही अधिक है। भ्रमर इसकी ओर आकृष्ट नहीं होते। ऐसी लड़कियाँ भी होती हैं जो रूप यौवन सम्पन्न होते हुए भी, अपनी सरलता के कारण, आकर्षण-विहीन रह जाती हैं। सौन्दर्य की कौन सी भंगिमा किसे आकृष्ट करेगी—इसका पता सबको नहीं होता। वह दृष्टि ही और होती है, कुछ मनोवैज्ञानिक और कुछ अनिवर्चनीय—'वह चितवाने औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।'

गेंदा, कनेर और धतूरा आदि कई पुष्प लोक-गीतों में, पूजा-अर्चना के लिए ही प्रासंगिक हैं। देव-पूजा में इनका स्थान है।

सभी फूलों के फूलने का अपना-अपना समय होता है। प्राय: अधिकांश पुष्प प्रभात में खिलते हैं, दुपहिया का पुष्प दोपहर में तथा रात-रानी आदि सूरज डूबने के बाद। कुमुदनी पूरी रात अपनी छटा बिखेरती है। बेला, आधी रात को फूलता है—'बेला फुलै आधी रात चमेली भिनसारे रे हरी।' आधी रात को फूलने का यह संदर्भ ही रसमय, लालस-सालस संसार की सृष्टि करता है। 'आधीरात' आज की सामाजिक व्यवस्था में चोरी, डकैती, बलात्कार, दुर्घटना तथा हत्या आदि की व्यथा-कथा भी है। समाचार-पत्रों के प्रात:कालीन संस्करणों में यही सब रहता है। लोक-गीतों का, आज की अव्यवस्था से सम्पर्क अभी बहुत नहीं हुआ है। उनमें पुरातन संस्कारों की ऊष्मा है। वे किसी काल-खंड की, जो अतीत बन गया है, विरासत हैं। साहित्य की भी यही स्थिति है। प्रारम्भ से ही लोक-गीतों तथा साहित्यिक अभिव्यक्तियों में, रात की कथा दो मिलनातुर प्रेमियों की अन्तर्कथा है। आज के प्रेम में, जो व्यवहारिक ताल-मेल तथा अल्पावृत शरीर-सौन्दर्य का आकर्षण है वह संस्कृति के परास्त भाव का सूचक है। तब का आकर्षण, प्रेम के नैसर्गिक प्रवाह तथा रूप के अवगुंठन में था। आधी रात के रहस्यमय संसार में, गुरुजनों से छिपकर, स्पर्शाकुल युवक-युवतियों के मिलन और विछोह में था। इसीलिए, आधी रात को खिलने वाला 'बेला' कहीं दाम्पत्य का और कहीं दाम्पत्य से पृथक, अनधिकृत प्रेम का प्रतीक बन गया।

लोक-गीतों में 'बेइली' तथा 'बेइलरि' सभी प्रयोग स्त्रीबोधक हैं लेकिन 'बेला' स्वयं में पुरुषवाची अर्थात् पुलिंग है। संस्कृत में गृहिणी का पर्याय 'दारा' शब्द है—'वरं न दारा न कुदार दारा'। यह स्त्रीबोधक है। लेकिन व्याकरण में यह पुलिंगवत् है। सोचिए, यदि स्त्री को पुरुषवत् सम्बोधित किया जाय तो कैसा रहेगा? सब चलता है। बड़ों की उल्टी रीति भी सिर-माथे। पाणिनि ने 'दारा' को पुलिंग में रहने दिया तो लोक-कवि ने बेला को पुलिंगवत् मानकर कौन सा अपराध किया। हाँ, निहितार्थ तो स्त्रीवाची ही रहा।

बेला, बेइली या बेइलरि, पारिवारिक पुष्प है। घर के भीतर स्थान पाने के पीछे भी, इसके आधी रात को पुष्पित होने की रहस्यमयी पृष्ठभूमि है। प्रारम्भ से लेकर अब तक, स्त्रियों का संसार प्राय: घर तक सीमित रहा है। इसके अपवाद भी बहुत कम हैं। वैदिक नारियों में कक्षीवान् की पत्नी घोषा, अगस्त्य की पत्नी

लोपामुद्रा, याज्ञवल्क्य की पत्नियाँ मैत्रेयी तथा कात्यायिनी एवं सूर्य-पुत्री सूर्या के अतिरिक्त अपाला और रोमशा आदि ऋषिकाएँ हैं । ये उदात्त नारी-संदर्भ हैं, इन्होंने सूक्तों की रचना की है । वैदिक-युग में नारी, अपने अध्यवसाय एवं शिक्षा के बल पर, पुरुष की समकक्षता पर स्थिति थी । बाद में चलकर इसी कोटि की एक स्त्री थी—भारती, मंडन मिश्र की अर्धाङ्गिनी । शंकराचार्य, पहली बार भारती से कामशास्त्र विषय में पराजित हुए । इसका प्रतिकार उन्होंने किया । मृत राजा अमरुक के शरीर में 'परकाय प्रवेश' की क्रिया द्वारा प्रवेश करके, उसकी रानियों के साथ सहवास कर कामशास्त्र का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया । इसी रूप में 'अमरुक शतक' की रचना की । पुनः, शिष्यों के संरक्षण में सुरक्षित, अपनी काया में प्रवेश किया । शंकराचार्य के रूप में, भारती से शास्त्रार्थ कर काम-शास्त्र में उसे पराजित किया ।

कामशास्त्र के ज्ञान के बिना लोक-ज्ञान अधूरा है, काव्यशास्त्र एकांगी है और सौन्दर्यशास्त्र अर्थहीन है । समस्त लौकिक विन्यास और सभी कलाएँ, काम के ही इन्द्रधनुषी प्रकीर्णक हैं । बेला, लोक-जीवन की [illegible]ारिक चेतना का उपबन्ध है । कम से कम, लोक-गीतों ने उसे इसी रूप में देखा है । बेला का स्थान घर के भीतर है...या तो आँगन में या घर के पिछवारे । लेकिन, इसकी महक, घर-परिवार के इस सीमित संसार से बाहर जाने के लिए व्याकुल है । ग्राम-वधू चाहती है कि उसके प्रेम की व्याप्ति, बेला की सुगन्ध बनकर, उस शहर को, जहाँ उसका प्रेमी रहता है, आह्लाद से भर दे—

> जउ मै जनतिउं बेइलरि एतना महकबेउ,
> बेइलरि रंगतेउ छयलवा क पाग सहरवा मा गमकत ।

* 　 * 　 * 　 *

चंदा वरन वर मिल गए, बेला चमकै चारों देश ।

लोक-गीतों के अनुसार, बेला की लता साधारणतया घर से बाहर नहीं लगाई जाती । इसका स्थान, जैसा कि कहा जा चुका है, घर के आँगन में है अथवा घर के 'पिछुवारे' । प्रकारान्तर से यह नारी जीवन का इतिवृत्त है । जीवन के महानाटक में, मनु आदि शास्त्रकारों ने उसकी भूमिका सीमित कर दी है । उसका काम है कि वह घर को सुवासित करती रहे । वैसे भी, स्वतंत्रता की कोई परिभाषा, पुरुष-प्रधान समाज में, उसके लिए नहीं बनाई गई—'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने, पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।' प्रतिबन्धों के बीच सारी उम्र, सारा जीवन पोखर के जल की भाँति छीजता रहता है—

> कौने कसुरवा अस दुख पइली
> हो उमिरिया बीतै ना,
> जइसे पोखरा क पनिया
> उमिरिया बीतै ना ।

लोक-गीतों में बेला के प्रयोग के संदर्भ अनेक हैं। इनमें विवाह के पूर्व का प्रेम-प्रसंग, सौन्दर्य और आकर्षण, पति-पत्नी का शयन-कक्ष और परस्पर की नोंक-झोंक तथा दाम्पत्य में तीसरे व्यक्ति का प्रवेश अर्थात् प्रेम का त्रिकोण और कलह आदि विशेष उल्लेखनीय है। उनके अतिरिक्त देवों की पूजा में बेला का विशेष महत्व है। शीतला माँ का दरबार बेले के रस-सुगन्ध से प्रमत्त रहता है—

मलिया अंगन ऐ सेवका बेइलिया, बेइलिया हो लाल,
रसे हि रसे रस पियै भंवरा मतवलवा हो लाल,
माति गइली सीतला मइया क दरबरवा हो लाल।

व्यंग्य-परिहास के क्रम में, पत्नी पर एकाधिकार रखने वाले पति को प्रताड़ित करने में 'बेइलिया' माध्यम है, भाई की स्मृति के साथ नैहर की सुधि में यही बेइलिया कारण बनती है साथ ही बेला, उस गृहणी का प्रतीक बनता है जो अपनी सरल मुस्कान, कोमल सौन्दर्य तथा अपनी कर्तव्य-निष्ठा की सुगन्ध से पूरे परिवार को एक सूत्र में बाँधती है।

विवाह के पूर्व, प्रेम-प्रसङ्ग तो चलते ही रहते हैं। यों तो प्रेम के लिए, उम्र का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता फिर भी, यौवन और प्रेम का गठबंधन स्वाभाविक है। लोक-गीतों में, बेला को रेखांङ्कित करने वाले, विवाह के पूर्व के प्रेम-सम्बन्धों के मुख्यतया दो रूप हैं। एक रूप तो वह है जहाँ तीव्र यौवनाकर्षण और एकान्तिक मिलन के बीच भी लड़की, यौन-शुचिता के प्रति सतर्क रहती है और प्रेमी की अनाधिकारिक चेष्टाओं का, विनम्रता से प्रतिरोध करती है। दूसरा रूप वह है जहाँ लोक-लाज और सामाजिक मर्यादा की परवाह न करके, किसी न किसी बहाने वह, प्रेमी से मिलने के लिए, जंगल, नदी-तट या अमराई आदि किसी भी निर्धारित 'सहेट' (मिलन-स्थल) पर चली जाती है।

बेला के फूलों सी कोमल-कान्त शरीर वाली वह मुग्धा अपने होने वाले पति से प्रार्थना करती है कि वह उसके शरीर को हाथ न लगाए। क्योंकि वह अभी 'कुँवारी' है। जिस तरह आधी रात फूलने के बाद ही, 'बेइलिया' का कौमार्य टूटता है उसी तरह वह, उसकी तभी बन पाएगी जब उसके पिता, उसका कन्यादान करेंगे।

जनि छुअ जनि छुअ ऐ माली अबही कुंवारि
आधि रात फुलइ बेइलिया त होब तोहार।
जनि छुअ ए दुलहा जनि छुअ अबही कुंवारि
जब मोर बाबा संकल्पइ त होब तोहार।

इसका दूसरा रूप कुछ इस प्रकार है—

मेरे घर के पिछवारे बेले की लता है। फूल फूलता है और झड़ जाता है। अमुक लड़की फूल तोड़ने जाती है। उसके हाथ में 'डेलइया' है और मुख में पान। फूलों को चुनकर वह वन में चली जाती है। (शायद, उसका प्रेमी वहाँ उसकी प्रतीक्षा कर रहा है)। माँ, खिड़की के पास खड़ी है। उसे जाते हुए देख रही है—"बेटी तूने खड़ी दोपहरी कहाँ बिताई। अब आधी रात को घर लौट रही हो?"

मोरे पिछुवरवा बेइली क पेड़वा
फूल फुलइ झरि जाइ,
फुलवा लोरन गईं बेटी कवन देइ
हाथ डेलइया मुख पान।
लोरि-लोरि फुलवा वन के सिधारेनि
माया झरोखन ठाढ़,
कहँवा बिताएउ बेटी खरी दुपहरिया
आयो है घरे आधी रात।

बेला की भावभूमि, सौन्दर्य और आकर्षण की भावभूमि है जहाँ नव यौवनाएँ, बेले की कलियाँ चुन-चुनकर सेज बिछाती हैं, बेले के फूलों के रस से चुनरी रंगती हैं और बेले का गजरा पहनकर पति या प्रेमी को आकर्षित करने का प्रयत्न करती हैं। लोकगीतों में, शृंगार के उद्दीपन तथा रूपाकर्षण की कई भूमिकाओं में बेला का अवतरण हुआ है।

"एक फूल खड़ी दोपहरी में फूलता है और दूसरा आधी रात को। फूलों को चुन-चुनकर मैंने रस निकलवाया। हे गोरिया, पूरा हौदा भर रस हो गया। उसी में मैंने अपनी चुनरी रंगवा ली। बड़ी रंगदार चुनरी है वह। उसी चुंदरी को पहनकर मैं ओसारे में लेट गई। बस, कुछ न पूछो, उसे देखते ही मेरे प्रियतम का मन ललचा उठा। गीत की अन्तिम पंक्ति है—'चुनरी पहिरि मैं ओलर्‌यो ओसरवा, पियवा क मन ललचाय हो गोरिया।'

इसी तरह एक दूसरे गीत में नायिका बेले के फूलों को चुनकर सेज बिछाती है तब, उसके पिया का मन ललचा उठता है—

फुलवा मैं लोढ़ि लोढ़ि सेजिया डसायों
दियवा क मन ललचाय हो गोरिया।

एक मैथिली झूमर गीत है जिसमें बेला के फूलों को, आकर्षण के एक नये आयाम में चित्रित किया गया है। इस गीत की अन्तिम पंक्तियों में प्रियतम के प्रति उपालम्भ भी है जिसका संदर्भ काम-प्रसङ्ग की ओर इंगित करता है और बिहारी की 'यों दलिमलियत निर्दई, दई कुसुम सो गात' या निराला की 'जुही की कली'

की 'निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की कि झोकों की झाड़ियों से सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली' के समानान्तर स्थित है—

बेली पहिरि हम सोइली ओसरवा
अबा-जबा कइलो...हे मोरे राजा,
इ देहिया मोरे अम्मा क पोसल
कइसे हक लगउलो...हे मोरे राजा।
बेली अइस हम चमकत रहलीं,
धूमिल कई देइलौ...हे मोरे राजा।

दम्पत्ति के शयनकक्ष का एकान्त, एकान्त नहीं रह पाता क्योंकि बेला या बेइलिया की उपस्थिति के कारण, प्रणय में डूब जाने के पहले वे एक-दूसरे को छेड़ने और गुदगुदाने लगते हैं। इसमें प्रेमाकर्षण की ऐसी ऊष्मा है जिसमें परस्पर समाहित हो जाने की अदम्य लालसा जागृत हो उठती है।

"आधी-आधी रात को कौन फूल फूलता है और कौन सा फूल सबेरे फूलता है ?बेले का फूल आधी रात को फूलता है और चमेली का फूल सबेरे फूलता है। हे लोहार के लड़के, तुम मेरे पिछवारे रहते हो, मेरे हितैषी हो, मेरे लिए एक लाल पलंग बना दो।...मैंने बेले के फूल चुन-चुन कर सेज बिछाया। राजा बेटा मधुबन में शिकार खेल रहे हैं। ऐ सासू जी के लड़के, जरा हटकर बैठो, तुम्हारे शरीर की गर्मी से मेरी चोली मैली हो रही है। हो जाने दो, ऐ ससुर जी की लड़की, मैं तुम्हारी चोली को धोबी के यहाँ धुलवा दूँगा...धोबी का लड़का तो बड़ा 'रंगरसिया' है, चोली को धोते हुए रस लेता है।" इस गीत की कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं—

घर पिछवरवा लोहरवा बेटा हित बसु
लाली पलंग बिनि देहु मधुबन में
फुलवा मै लोढ़ि-लोढ़ि सेजिया डसायो
राजा बेटा खेलइ सिकार मधुबन में।
हटि बैठु, हटि बैठु सासू जी के लरिका
घामे चोलिया मइल होइ जात मधुबन में।

यहाँ 'स्वेद' नामक संचारी भाव का प्रकारान्तर से उल्लेख है जो बिहारी के 'लागे नीर चुचान ये नीठि सुखाए बार' की याद दिला देता है।

दाम्पत्य-प्रेम केवल दो व्यक्तियों का अन्तर्मिलन है। यहाँ तीसरे का शामिल होना, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, निषिद्ध है, अवांछनीय है। ऐसे कई गीत हैं जिनमें दोनों ओर से कभी-कभी एक तीसरे का प्रसङ्ग आ जाता है और विवाद या कलह

का कारण बनता है। निम्न गीत में परस्पर कलह का कारण मालिन की लड़की है—

"जब वह ब्याह के मंडप में था तभी से इतना महक रहा था कि उस महक से रहा नहीं जा रहा था।...मेरे स्वामी, तुमको ये बेले के फूल कहाँ से मिले जो सारी रात महक रहे हैं? मेरे पिछवारे मालिन की लड़की रहती है, मेरी मित्र है। उसी की बगीची में बेइली के फूल हैं जो सारी रात महकते हैं। अगर मैं अमुक राजा की बेटी हूँ तो मालिन की बगिया उजड़वा दूँगी और मालिन को वनवास दे दूँगी।... अगर मैं अमुक लाल का पुत्र हूँ तो मालिन की बगिया को दूध से सिंचवाऊँगा और उस मालिन को अपने रनिवास में रखूँगा।"

कहाँ पायो मोरे स्वामी बेइली का फुलवा
गमके नियाई रात,
मोरे पिछुवरवा मलिनिया क बिटिया
लागइ मितनी हमार,
वोकरे बगिचिया बेइली क फुलवा
गमके नियाई रात।

....
मलिनी क बगिया हम दुधवा सिंचउबै
मलिनी देहौ रनिवास।

दाम्पत्य-प्रेम में आवेग पूर्ण मिलन के अनेक बिन्दु हैं लेकिन, यहीं पर कुंठाओं की आड़ी-तिरछी रेखाएँ भी हैं। नारी-जीवन की त्रासदी यह है कि वह सभ्यता के प्रारम्भ से लेकर अब तक एक तरह से पराधीन ही रही है। अपनी पत्नी द्वारा तिरस्कृत होने के कारण गोस्वामी तुलसीदास, नारी के प्रति पूर्वाग्रही थे। नारी-निन्दा के प्रसङ्ग 'रामचरित मानस' में दुर्लभ नहीं है। फिर भी नारी जीवन की व्यथा से उनका मन भी पसीज उठा था— 'कत विधि सृजी नारि जग मांही, पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।'

एक सावन गीत है जिसमें पति से बदला लेने के लिए, उसे एक विशेष प्रकार की सजा दिए जाने की कल्पना की गई है। गीत का गद्य रूपान्तर इस प्रकार है—

"यहाँ के ठुइयां-भुइयाँ (स्थानीय देवता), हमारा कर्म और तुम सबका धर्म...भइया, रक्षा करना हम सब की। किसके घर फूल तोड़ने जाऊंगी?...भाई के घर फूल तोड़ने जाऊंगी? किसकी डेल-डेलइया (टोकरी या डोलची) होगी और किसका फूल होगा? बांस की डेल-डेलइया होगी और 'बेईली' का फूल होगा।...

किसका डोला है, कहार किसके हैं? ससुर जी का डोला है जेठ जी के कहार हैं... मैं डांडी-डोला तोड़ डालूँगी और कहारों को मार भगाऊँगी।... दुबले-पतले अपने पिया को बबूल की डाल से बाँध दूँगी।...मेरा दुबला पति 'इनती' कर रहा है, 'विनती' कर रहा है। हे धनिया, रस्सी खोल दो, अब से मैं तुम्हारा गुलाम बनकर रहूँगा।"

इस गीत को लड़कियाँ, कजरी और सावन के गीतों के प्रारम्भ में प्रस्तावना के रूप में गाती हैं। टोलियाँ बन जाती है। दोनो टोलियाँ, आमने-सामने खड़ी होकर, गीत की लय के साथ, पाँव आगे-पीछे रखते हुए, चुटकी बजा-बजाकर इसे गाती हैं। इस गीत में पति को प्रताड़ित करने का प्रसङ्ग उपस्थित कर, पति-पत्नी के समान अधिकार की बात उठाई गई है। वास्तव में पति की अनुगामिनी बनकर, स्त्री को अपनी स्वयं की इच्छाओं का जो दमन करना होता है, उसी की प्रतिक्रिया में यह गीत रचा गया है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

केथुवा क डेल-डेलइया केथुवा के फूल लोइ
बांसवा क डेल-डेलइया बेईली क फूल लोइ।

....

तोड़बइ मइ डांडी-डोला मारबइ कहार लोइ
पातर पियवा बांधवै बबूरिया के डाल लोइ।
पातर पियवा इन्ती करै पातर पियवा विन्ती करै
छोरु धनि लसरी मैं होब तोर गुलाम लोइ।

दाम्पत्य के इन संदर्भों के अतिरिक्त बेला, भाई और बहन के अटूट स्नेह बंधन का भी प्रतीक है—

"हे बइलरि तुम इतनी दूर पर क्यों फैली हो? बेइलरि तुम्हें सींचने कौन जाएगा? मुझे सींचने माली का लड़का जाएगा जिसकी बेइलरि के कुम्हला जाने का भय है। हे बहन, तुम इतनी दूर क्यों बसी हो? तुम्हें बुलाने कौन जाएगा? मुझे बुलाने के लिए मेरा भाई आएगा, जिसकी बहन परदेश में बसी है।'

एतनी क दूरिया कस बसलेउ बहिनिया
बहिनी तोहिं आनइ किन जाइ
हमही आनइ जउहीं भइया कवन लाल
जेफर बहिनी बसइ परदेस।

इसी प्रकार, लड़की के सुख-सौभाग्य का सूचक निम्न गीत है—उसके पति चांद की तरह हैं, जेठ, सूर्य की तरह तेजस्वी है, ननद बिजली की तरह चमक कर

प्रकाश फैलाती है। ऐसे लोगों के बीच वह बेला जैसी लड़की चारों देश में चमक रही है'

चन्दा वरन वर मिलि गए
सूरज से मिलि गए जेठ
बिजली सी चमकत ननदी मिली
बेला चमकै चारों देश।

इस प्रकार, दाम्पत्य, प्रणय, हास-परिहास, पूजा-अनुष्ठान तथा पारिवारिक सम्बन्धों की कोमलता को, रेखांङ्कित करने वाला यह नन्हा सा पुष्प लोक-जीवन में, गीतों के माध्यम से अपनी सार्थक पहचान बनाए हुए है। इसमें नारी का परम्परागत कटु-मधुर व्यक्तित्व है, प्रेम की उष्मा है, उड़ने के लिए व्याकुल पंखों की फड़फड़ाहट है और पुरुष के अनुशासन तथा एकाधिकार के प्रति, मन के किसी कोने में पनपने वाली कड़ुवाहट भी है।

लोक-गीतों में करुण रस

लोक-गीत और कविता, दोनों में विशेष अन्तर नहीं है क्योंकि संवेदना के स्वरों का चढ़ाव-उतार दोनों में है। अन्तर केवल इतना है कि कविता, साहित्य के 'ब्यूटी पार्लर' से, अर्थ-ध्वनियों, प्रतीकों एवं बिम्बों से विशेष सज-सँवर कर सामने आती है और बेचारे लोक-गीत इतने साधन-सम्पन्न नहीं होते। उनकी अभिव्यक्तियाँ सीधी और सरल होती हैं। कविता की भाँति, लोक-गीतों का रूप-विन्यास भी कई प्रकार का होता है जिसमें दो-तीन पंक्तियों की छोटी रचनाओं से लेकर लम्बी वर्णनात्मक या प्रबन्धात्मक रचनाएँ जैसे चनैनी, पंवारा या जतसार आदि के गीत सम्मिलित हैं। लोक-गीतों की अनिवार्यता, उनका गेय होना है जबकि कविता, बौद्धिक परिवेश में आकर, इस बन्धन से मुक्त हो चुकी है।

कविता पढ़ते समय, रचनाकार पहले, सामने आकर खड़ा हो जाता है किन्तु लोक-गीतों का सर्जक अनाम और प्रच्छन्न होता है। केवल उसके गीत, पंख फैलाकर, एक स्थान से दूसरे स्थान तक उड़ते रहते हैं। स्थान-विशेष की मिट्टी, हवा तथा पानी के संसर्ग से वे हमेशा तरोताजा बने रहते हैं। उनके कथ्य में किंचित परिवर्तन भी होता रहता है। जब उन्हें लिपिबद्ध कर लिया जाता है तब उनकी उड़ान खत्म हो जाती है। वे स्थानीय बनकर रह जाते हैं।

लोक-गीतों की भाव-धाराएँ अनेक हैं। लोक-जीवन की पहाड़ी और ऊबड़-खाबड़ जमीन से इनका प्रवाह जारी है। इस प्रवाह के बहुत नीचे, एक पतली सी अन्तर्धारा करुणा की है। विविध प्रसङ्गों में यही अन्तर्धारा, हल्की-सी टीस, हल्की-सी बेचैनी या हल्की-सी घुटन पैदा करती रहती है। करुणा का यह अनाम अन्तर्प्रवाह ही, गीतों को मनुष्य के नजदीक लाता है। वह इसी में अपना चेहरा देखता है क्योंकि वह, स्वयं दुःखमय संसार का दुःखी प्राणी है। तथागत बुद्ध ने भी यही अनुभव किया था। यही जीवन-सत्य है। कविता या गीत के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। काव्य के मूल में करुणा, कोई विसंगति नहीं बल्कि सच्चाई है जिसे देश-विदेश के कवियों ने अनुभव किया है।

वाल्मीकीय रामायण के, बालकाण्ड के दूसरे सर्ग में, कविता के जन्म की कथा है। तमसा नदी के तट पर, कामासक्त क्रौञ्च युगल में से एक को, किसी निषाद ने, कवि वाल्मीकि के देखते-देखते, बाण-विद्ध कर दिया। नर क्रौञ्च के भू-लुंठित, रक्तरंजित शरीर के ऊपर मंडराती हुई क्रौञ्ची के कातर चीत्कार ने, कवि को इतना व्यथित कर दिया कि उसने, निषाद को अनंतकाल तक अप्रतिष्ठित हो जाने का शाप दे दिया—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: सभा:।' कहा जाता है कि यह लौकिक काव्य-परम्परा की पहली कविता थी जिसमें आततायी के लिए शाप था और जो दयाद्र हृदय से उत्पन्न हुई थी। सृष्टि का चरम सुख काम है और चरम दु:ख मृत्यु। चरम सुख का अचानक, चरम दु:ख में परिणत हो जाना, जीवन की एक तीव्रतम विसंगति है। कविता हो या लोक-गीत, दोनों की जमीन एक है जो इसीप्रकार आलोड़न पैदा करने वाली स्थितियों से बनी है।

कवि वाल्मीकि के बहुत बाद में, कवि श्रीकंठ हुए जो संस्कृति साहित्य में भवभूति के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके प्रसिद्ध नाटक 'उत्तर रामचरितम्' के सम्बन्ध में कहा गया है कि इसमें करुणा का प्रवाह इतना तीव्र है कि यहाँ पत्थर भी रो पड़ते है और वज्र का हृदय भी पिघल जाता है—'अपि ग्रावा रोदति दलति वज्रस्य हृदयम्।' इसी नाटक में कवि भवभूति ने घोषणा की कि एकमात्र रस—करुण रस है। यह करुण रस एक विशाल जलराशि है जिसमें कभी आवर्त बनते हैं, कभी तरंगे उठती हैं और कभी जल बुलबुलों के रूप में सतह पर बिखरने लगता है—'आवर्त बुद्बुद् तरंग मयान् विकारान् अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्।' ये सब जल के ही विभिन्न विकार हैं। करुण रस में भी इसी प्रकार, विभिन्न विकारों के रूप में अन्य रस उत्पन्न होते हैं।

भवभूति ने ऐसा क्यों कहा? इससे तो रसाचार्यों की मान्यता ही खंडित हो गई। शृंगार को रसराज मानना तो ठीक लगता है क्योंकि आसक्ति में ही सारा संसार टिका है। यह करुण रस इतना शक्तिशाली कैसे हो गया कि सभी रस उसमें समा जायं? इसका उत्तर ढूँढ़ना पड़ेगा।

काव्यशास्त्र में, 'स्थायी भाव' विभिन्न प्रकार की मन:स्थितियाँ हैं जिन्हें अंग्रेजी में 'सेन्टीमेन्ट्स' कहा जा सकता है। ये स्थायी भाव ही, अनुकूल स्थितियों एवं उपादानों से संवृद्धि पाकर, पाठक या दर्शक वर्ग के लिए, विभिन्न रसों के रूप में, मानसिक आस्वाद बन जाते हैं। इसी को रसान्विति या रसप्रक्रिया कहते हैं। भरत मुनि (नाट्यशास्त्र—छठा अध्याय) ने सबसे पहले रस-सिद्धान्त की व्याख्या की। परम्परा पुरानी है जिसे उन्होंने स्थान-स्थान पर, अनुवंश्य श्लोकों के रूप में स्मरण किया है। रसों के प्रकरण में, उन्होंने करुण रस को, शोक नामक

स्थायी भाव से उत्पन्न माना है—'अथ करुणो नाम शोकस्थायिभाव प्रभवः ।' इसी प्रकार शृंगार रस को भी उन्होंने 'रति' स्थायी भाव से उत्पन्न कहा है—'शृंगारोनाम रतिस्थायिभावप्रभवः ।' इन दोनों के अतिरिक्त शेष सभी रसों को वे स्थायी भाव स्वरूप ही मानते है—हासो नाम हासस्थायिभावात्मकः या रौद्रोनाम क्रोधस्थायिभावात्मकः आदि ।

शंका की बात है कि 'रति' का अर्थ शृंगार नहीं है और न 'शोक' का अभिप्राय करुण हो सकता है । केवल इन्हीं दोनों रसों में स्थायी भाव और रस की यह भिन्नता है । शेष सभी रस अपने-अपने स्थायी भावों के सजातीय हैं । इन दोनों रसों और इनके स्थायी भावों में यह विजातीय स्थिति कैसे आ गई ?

शृंगार का सीधा-सादा अर्थ 'प्रसाधन' है और करुण का अर्थ 'दयाद्रता' कहा जा सकता है । रति से शृंगार का और शोक से करुण का तालमेल नहीं बैठता । तात्पर्य यह है कि ये दोनों रस, क्रमशः रति और शोक से जन्मे अवश्य है किन्तु रति और शोक मात्र ही नहीं हैं । इनकी परिधि विशाल हो सकती है । संतान, अपने पिता के संस्कार ग्रहण कर सकती है किन्तु पिता से उसका व्यक्तित्व भिन्न होता है । 'रतिस्थायिभावप्रभवः' में शृंगार के अन्तर्गत, अनुरक्ति की सम्पूर्ण चेतना विद्यमान है । इसी प्रकार 'शोक स्थायी भाव प्रभवः, में करुणं के अन्तर्गत दुःख वर्ग के सभी भाव और सभी संवेदनाएँ आ जाती हैं । अस्तु, करुण रस बहुत व्यापक है । जिस तरह शृंगार के अन्तर्गत अनुराग, स्नेह, ममत्व, अयोग, संयोग तथा विप्रलंभ आदिके साथ आसक्ति के अन्यान्य रूप सम्मिलित है उसी प्रकार, करुण रस के अन्तर्गत शोक, दुःख, पीड़ा, व्यथा, ग्लानि, परिताप, बिछुड़ने का दर्द तथा दरिद्रता आदि न जाने कितने भाव और स्थितियाँ आ सकती हैं । भरत मुनि ने इसे निरपेक्ष भाव कहा है—'करुणस्तु... निरपेक्ष भावः ।' यह निरपेक्ष, इस अभिप्राय में है कि नैराश्य पूर्ण मनोदशा में उसका जन्म होता है । जीवन अपनी सम्पूर्ण विभीषिका के साथ नैराश्यपूर्ण ही है । इसीलिए करुण रस जीवन का प्रतीक है । शृंगार आदि सभी रसों की अन्वितियाँ, इस करुण रस से, कुछ खोने—कुछ पाने और पुनः खो देने की सम-विषम स्थितियों से जन्म लेती हैं । काव्य की भाँति लोक-गीतों में भी, करुण रस की सभी स्थितियाँ वर्तमान हैं ।

* * * *

लोक-गीतों में कुछ तो संस्कार-गीत है जिनकी शृंखला काफी लम्बी है । यों तो 'संस्कार मयूख' में मात्र वैवाहिक संस्कारों की गणना ४५ तक पहुँच गई है । दूसरे, ऋतु सम्बन्धी गीत हैं । जैसे, कजली, सावन, होली (फाग) तथा बारहमासा आदि । तीसरी कोटि, व्रत और देवता सम्बन्धी गीतों की है जैसे, देवी गीत, भजन,

निर्गुन आदि । चौथे क्रम में जाति सम्बन्धी गीत आते हैं जैसे-अहीरों का 'बिरहा', गोड़ों का 'कहरवा', चमारों का 'चमरुवा' आदि । इसी में अहीरों का प्रसिद्ध प्रबन्धात्मक गीत 'चनैनी' भी सम्मिलित है । पाँचवाँ, श्रम सम्बन्धी गीतों का वर्ग है और छठें क्रम में विविध प्रकार के, मुक्त गीतों को रक्खा जा सकता है ।

अब करुण रस के संदर्भ में, कुछ करुण-जन्य स्थितियों की चर्चा करना आवश्यक है ।

पारिवारिक जीवन और बन्ध्यत्व

भारतीय समाज की संरचना इस प्रकार हुई है कि उसमें स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध का प्रतिफलन संतान के रूप में होना चाहिए । मनु कहते हैं कि स्त्रियों की सृष्टि प्रजनन के लिए और पुरुष की सृष्टि संतान के लिए हुई है—'प्रजननार्थं स्त्रिय: सृष्टा: संतानार्थं च मानवा: ।' ऐसी स्थिति में, बांझ स्त्री, परिवार और समाज दोनों में तिरस्कृत होती है । संतानहीन स्त्री, मानसिक यातनाओं से इतनी ग्रस्त हो जाती है कि उसे अपना जीवन ही निरर्थक प्रतीत होने लगता है । बन्ध्यत्व, चाहे जिस कारण से हो, लोक-समाज में सारा दोष स्त्री को ही दिया जाता है । स्त्री, इसके लिए देवी-देवताओं की शरण लेती है—

मैया के दुआरे एक बंझनी पुकारे
देउ बालक घर जाऊँ हो माय.....

स्त्री रो रही है । 'तुम्हे सास-ससुर ने दु:ख दिया है या तुम्हारा नैहर बड़ी दूर है ? क्या तुम्हारे पति परदेश में हैं....किस दु:ख से रो रही हो ?' 'न मुझे सास-ससुर ने दु:ख दिया है, न मेरा नैहर दूर है और न मेरे पति परदेश में हैं । मुझे 'कोख' का दु:ख है ।' 'हे तिरिया, मत रोओ । अपने हृदय को ढ़ाढ़स दो । मेरा बच्चा ले लो...अपना बनाकर रखो ।' नमक तो उधार मिल सकता है, तेल भी व्यवहार में मिल जाएगा लेकिन 'कोख' का उधार नहीं चलता—

न रोउ तिरिया तू न रोउ जिया समझावहु हो,
लै लेउ होरिलवा हमार अपन करि राखहु हो ।
नोनवा त मिलइ उधार दि तेल व्यवहरवा हो
सखिया, कोखिया क कौन उधार जबै राम देइहैं....

कथा लम्बी है । 'मेरे पीछे बढ़ई का घर है, बढ़ई मेरा भाई है । हे भइया, काठ की पुतली ही बना लाओ, मैं उसी को लेकर, अपने जी को ढ़ाढ़स दे लूँगी...हे पुतली, नवजात शिशु की तरह रोओ न... जोर-जोर से रोओ कि मेरे घर भी सोहर गाई जाने लगे । 'हे रानी, मैं तो काठ की बनी हूँ...भला मैं कैसे रो सकती हूँ... तुम बाग में जाओ, सूरज देवता का ध्यान करो... वे तुम्हें पुत्र देंगे ।'

तेलवा लगायेऊ फुलेलवा लगायेऊ
खटोलवा सुतायेऊ हो,
पुतरी तूहू तनी रोइ के सुनाओ
बंझिन घर सोहर हो ।

प्रसव-पीड़ा और अकेलापन

प्रसव-पीड़ा के समय, किसी अपने का, न होना भी दारुण दु:ख है । उस समय स्त्री का मन, जहाँ एक ओर संतान-प्राप्ति की क़ल्पना से उल्लसित हो उठता है वहीं दूसरी ओर प्रसव पीड़ा के दौरान, दारुण यंत्रणा, यहाँ तक कि मृत्यु तक का भय, उसे निराश और व्यथित कर देता है । सुख और दु:ख की यह आँखमिचौनी उसके समूचे व्यक्तित्व को संकटापन्न कर देती है—

बनवा में बैठी सीतारानी चुवत ढुर-ढुर आँसु रे,
मोरी माया, ना कोऊ अब मोरे आगे ना कोऊ अब पाछे हो ।
उमरि-घुमरि पीर आवइ कमरि मोरि टूटइ हो
मोरी माया विधि कर बाँधी गठरिया त केकर हाथे टूटइ हो ।

लोक कवि ने सीता को सामान्य नारी का प्रतीक बनाकर पेश किया है ।.....सीता रो रही है... सद्य:प्रसवा स्त्री रो रही है । कौन है जो मेरे बच्चे को सँभालेगा । इस सीता के रोने से सभी नदियाँ भर कर उतरा आई हैं । वनस्पतियों के सभी पत्ते झर गए हैं.....आदि ।

नदिया त गहवरि भरि गई सीता के रोए से हो,
वनपात सब झरि गए सीता के रोए से हो ।

लड़की के जन्म का दु:ख तथा उसके प्रति परायापन

पितृमूलक समाज की विडम्बना यह है कि इसमें स्त्री जाति को जन्म से ही तिरस्कार प्राप्त होता रहा है । कुछ मान्यताएँ-ऐसी बन गई है कि उन्हें मिटाया नहीं जा सकता । लड़की के जन्म लेते ही उसे पराया मान लिया जाता है... क्योंकि उसे अन्यत्र जाना है । पालन-पोषण के बाद, दान-दहेज सहित उसे दूसरे को सौंप देना है । ऋषि कण्व, शकुन्तला को, राजा दुष्यन्त के पास भेजकर दु:ख से विचलित होते हुए भी, कहते हैं—कन्या तो पराया धन है, उसे आज पति-गृह भेजकर, मेरी आत्मा उसी तरह संतुष्ट है जिस तरह किसी की पराई अमानत, उसी को सौंप देने पर होती है ।

अर्थोऽहि कन्या परकीय एव
तामद्य सम्प्रेष्य परिगृहीतं
जातो ममायं विशदं प्रकाम:
प्रत्यार्पितान्यास इवान्तरात्मा । (अभिज्ञान शाकुंतलम्)

एक लोक-गीत है जिसमें इसकी आशंका होते ही कि बहू लड़की को जन्म देगी उसे 'कुलच्छनी' घोषित कर दिया जाता है—

लठिया टेकत आवइ पंडितवा त पोथिया विचारै,
बहुवा बड़ी कुलच्छनो हो तुम्हरे होइ है बिटिया...

ऐसी परिस्थिति में, बहू बार-बार तुलसी माता से प्रार्थना करती है कि उसे पुत्र ही प्राप्त हो—'तुलसी विहेउ मोंहि नन्दलाल मैं पियरी चढ़उबेउँ हो ।'

शादी के बाद लड़की ससुराल की हो जाती है लेकिन, उसके मन में नैहर का मोह बना रहता है । नैहर... जहाँ उसके बचपन की स्मृतियाँ है, जहाँ उसके माँ-बाप है, भाई-बहन है । करुणाजनक स्थिति यह है कि उसकी इस बेचैनी को, उसकी पीड़ा को, उसी के घर वाले नहीं समझते । जब कभी उसे 'काज-परोजन' नैहर जाने का अवसर मिलता है...उसी के घर वाले उसे अवांछित व्यक्ति समझते हैं क्योंकि वह कुछ लेने आई है... या उसको कुछ देना ही पड़ेगा । मुंडन के गीतों में, भाभी और ननद की नोक-झोंक, प्राय: देन-लेन के मसले पर ही होती है ।

'भउजी लेबइ चनन कर हार मोहर दस नेग हो ।'
'ननदी दुइ रे टका तोर नेग, परैया भर चाउर हो ।'

सांस्कारिक गीतों में कन्या-पक्ष—वर की तलाश, पाणिग्रहण तथा विदाई

सांस्कारिक गीतों में, सबसे अधिक मार्मिक और अन्तश्चेतना को झकझोर देने वाले गीत, विवाह के गीत है । भारतीय समाज में विवाह, एक धार्मिक कृत्य है । वंश-परम्परा के रूप में, इसकी शृंखला पूर्वजों से लेकर वंशजों तक जाती है । पुत्र, पिता का आत्मज है, अपना ही प्रतिरूप है । इस प्रकार, पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह आत्मज-परम्परा कायम है । विवाह का उद्देश्य इसी परम्परा को आगे बढ़ाना है । पैतृकता, पुत्र पर आधारित है इसलिए पुत्र ही उत्पन्न हो ऐसा विधान भी मिलता है । वृहदारण्यक उपनिषद (६/४) में 'पुत्र-मंथ-कर्म' का विधान है ।

विवाह के गीतों में वर पक्ष के गीत (घोड़ी, बन्ना, मौरी आदि) जहाँ, उल्लास और हास्य-विनोद का वातावरण प्रस्तुत करते हैं वहीं कन्या-पक्ष के गीत, प्रारम्भ से ही अवसादग्रस्त और करुणाजनक स्थितियों की सृष्टि करते हैं ।

कन्या के लिए उपयुक्त वर की तलाश, एक समस्या है विशेषतया, निर्धन पिता के लिए तो यह समस्या और भी विकट हो जाती है ।

'पिता, तुमने दीवारों पर चित्र बनवाए, तालाब खोदवाया, लेकिन दामाद ढूँढ़ा तो निर्धन । क्यों ?' 'बेटी, यह तो तुम्हारा भाग्य है मैं क्या करुँ ?' 'मैं पंडित के वेद में आग लगा दूँगी और स्वयं गले में फंदा डालकर आत्महत्या कर लूँगी ।

आपने जन्म के समय ही मुझे पत्थर से दबाकर मार क्यों नहीं डाला। आप मुझे इतना दुःख क्यों दे रहे हैं... ?'

अगिया लगाउब बाबा पंडित के वेदवा
फँसिया लगाउब फंदा डारि,
जनमत बाबा मोहि पथरा दबउतेउ
काहे के जियरा विरोग।

एक दूसरे गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

पिता असमर्थ है, चलते-चलते थक गया है। 'कुश-कन्या' का दान देना चाहता है वह हाहाकार कर रहा है...यह सुनते ही बेटी ओसारे में आकर खड़ी हो गई। 'बाबा, तुम्हारा पटुका क्यों भींज रहा है, आँखों से आँसू क्यों चू रहे हैं ? हे बाबा, तुम्हारा चेहरा धूमिल क्यों हो गया है ? तुम्हारे जी में कौन-सा दुःख समा गया है ? हे बाबा, मुझे चुटकी भर 'सेंदुर' नहीं चाहिए बल्कि, मैं 'क्वांरी' ही रह जाऊँगी। माई की आँचल में सिर छिपाकर सो जाया करुँगी, मैं भाई की छतरी नीचे नहीं होने दूँगी।'

चुटकी भर सेन्दुरा नहि लेबै बाबा बरु हम रहबइ कुमारि।
माई के कोछवा सीस धरि सोउब भउजी गोहनवा रहबइ लागि।

—आदि

पाणिग्रहण के प्रसंग में एक बात जो बार-बार दोहराई गई है वह है—कन्या पर 'ग्रहण' लगना। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मुहावरे में, कन्या के भविष्य का सारा समीकरण है क्योंकि अब वह अपनी निजता को खोकर, पति तथा उसके परिवार का अंग बन जाएगी। कन्यादान हो रहा है...भाई का हाथ काँप रहा है...आज उसकी बहन पर ग्रहण लग रहा है। सोलह बरस बाद बहिन का साथ छूट रहा है—

चाँद-सुरुज गहन जग पर लागइ
बहिनी गहन अब लाग ....।

....
गुलरी क फुलबा बहिन मोर होहैं,
लेत आज मोसे दान,
सोरह बरस रहिउ हमरे भवनवा
अब छूटत साथ तोहार ....।

भाँवर या 'सप्तपदी' का विवाह में विशेष महत्व है। इसमें विशेष बात यह है कि छः भँवरी तक कन्या, पिता की है किन्तु सातवीं भँवर के बाद वह 'पराई' घोषित कर दी जाती है—'सतईं भँवरिया के घूमत बाबा अब भई कन्या पराइ।'

करुणा की तीव्र स्थिति बिदाई के गीतों में है । एक कन्या, जिसे जन्म देकर माँ-बाप ने पाला-पोषा है । भाई, जिसके साथ वह खेली-बढ़ी है, अब, पराए देश के पराए पुरुष को सौंपी जा रही है । इस तरह के जितने गीत हैं उनमें कई प्रश्न एक साथ उठते हैं । पहला यह कि बेटा और बेटी में फर्क किया जा रहा है । बेटे को 'राजमहल' और बेटी को 'वनवास' दिया जा रहा है । दूसरा यह कि माँ-बाप की दृष्टि में, जिसके अभी खेलने-खाने के दिन है, उसे अचानक अनजाने पुरुष के साथ, अनजाने देश में भेजा जा रहा है । तीसरा, यह कि जिस कन्या को परदेश भेजा जा रहा है उसका भविष्य अनिश्चित है । विदाई के गीतों में अनेकों बार, इन्हीं स्थितियों के माध्यम से, करुण-रस की धारा वेगवती बनी है—यथा,

भइया क लिखौ बाबा लाल चौपरिया
बेटी के लिखउ वनवास ।

....

गुड़िया खेलत्ती है मोरी बेटी स्वामी
बजरे क छतिया तोहार ।

....

मइया के रोए अंगन मोर भींजइ
बाबा के रोए चौपाल ।

वर्ग-संघर्ष या शोषक-शोषित की व्यूह-रचना—हिरनी के गीत

जो प्राचीन गीत हैं उनमें परम्परा का ही अनुमोदन है । जो पीड़ित हैं, दुःखी हैं उनके प्रति समाज की करुण दृष्टि भी है । गीतों के समाज में, वर्ण-व्यवस्था के विभिन्न वर्णों या वर्गों के प्रति समादर का भाव है । पुत्रोत्सव पर 'नाड़ा काटने वाली' भी अपने 'ऊँचे बोल' बोलती है, वह भी हास-परिहास में शामिल होती है । नाई जो प्रत्येक शुभ अवसर पर शुभ समाचार देने जाता है वह भी विशिष्ट व्यक्ति बन जाता है । बढ़ई का बेटा भी किसी के लिए 'लाली पलंग' बनाकर लाता है । समाज में विभिन्न पेशा वाले लोग, इसी प्रकार आपसी सौहार्द और अपनत्व की भावधारा में एक-दूसरे से जुड़े हैं । पूरा का पूरा सामाजिक धरातल, बाहर से कटा-पिटा नजर नहीं आता, यद्यपि इसमें दरारें हैं । इसका उदाहरण एक प्रसिद्ध 'हिरनी गीत' है जो गई रूपों में सामने आता है और पुत्रोत्सव पर उत्तर प्रदेश से लेकर बिहार आदि राज्यों में गाया जाता है ।

'एक छापक (छोटा) छिउल (पलाश) का पेड़ है....पत्तों से भरा हुआ । उसी के नीचे हिरनी खड़ी है...बहुत-ही अनमनी, उदास । चरते-चरते हिरन, हिरनी से पूछता है कि हें हिरनी, तेरा चरहा (चारागाह) सूख तो नहीं गया कि तुझे पानी पीने को नहीं मिला, इसी से मुरझा गई है ।' 'नहीं, मेरा चरहा सूखा नहीं, पानी बिना

भी मैं मुरझाई नहीं हूँ। हिरना, आज राजा जी के यहाँ छट्ठी है, वे तुम्हें मार डालेंगे।' कौशिल्या रानी मचिया पर बैठी है, हिरनी 'अरज' कर रही है। 'रानी, मांस रसोई में 'चुरने' दो, मेरे हिरन की 'खलरी' मुझे दे दो। उसी खलरी को पेड़ से टाँग दूँगी और उसे देख-देख कर, अपने दुःखी मन को समझा लिया करुँगी।' 'हिरनी, अपने घर जाओ, खलरी नहीं दूँगी, खलरी से खंजड़ी मढ़वाऊँगी, मेरे राम उससे खेला करेंगे।'...जब-जब खंजड़ी बजती है, शब्द सुनकर हिरनी चौकन्नी हो उठती हैं। हिरनी उसी ढकुलिया नीचे खड़ी-खड़ी अपने हिरन को बिसूरती रहती है।

जब-जब बाजइ खंजड़िया सबद सुनि अनकइ हो
हिरनी ठाढ़ ढकुलिया के खलवा हिरन के बिसूरह हो।

क्या है इस गीत में? कहीं शोषक और शोषित की भावनाओं को, आमने-सामने लाने की कोशिश तो नहीं है, या उत्सव-आयोजन में, मांसाहार के लिए, निरीह जीवों की हत्या के विरुद्ध, एक करुण-विद्रोह...क्योंकि, असमर्थ और असहाय का व्रिदोह, करुण ही हो सकता है।

इस गीत का एक दूसरा रूप भी है जिसमें कौशिल्या रानी का यह रूप नहीं है। अन्तर भी है कि इस गीत का संदर्भ गर्भवती सीता का है। हिरनी कहती है कि सीतारानी के नन्दलाल (लोक-गीतों में 'नन्दलाल' पुत्र के अभिप्राय में भी आता है) होंगे....हमें भी कुछ चाहिए। कौशिल्या तत्काल उत्तर देती है—'हिरनी मैं तेरे सींग, सोने से मढ़वाऊँगी, तिल और चावल का भोजन दूँगी...मैं पूरे अयोध्या का राज्य तुझे दे दूँगी तू निर्भय होकर वन में विचरना।' तात्पर्य यह है कि हिरनी के हिरन को, प्राण-दान ही नहीं मिला बल्कि उदारतापूर्वक अयोध्या का राज्य भी दे दिया गया—

सोनवा मढ़इहौं दुनउ सिंगवा भोजनवा तिल चाउर हो,
हिरनी भुगतहु अयोध्या का राज अभय वन निचरहु हो।

ग़रीबी और आर्थिक विषमता—प्रणय और विप्रलम्भ का दर्द

लोक-गीतों का जो समाज है उसमें आर्थिक विषमता की खाईयाँ बहुत गहरी हैं। इनमें दैन्य है, परिताप है और शोषण है किन्तु कहीं भी, खासतौर पर पुराने परम्परागत गीतों में, इनके विरुद्ध कोई आवाज़ उभरकर सामने नहीं आती। सब ईश्वरकृत विधान है, इसलिए विद्रोह का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी, करुणा में लिपटी, आर्थिक विषमता की अनेक पर्तें लोक-गीतों में खुलती चली जाती हैं। भुजइन, अपनी ठकुराइन से प्रार्थना मिश्रित हठ करती है—'तोहरे केजवा क भुजइया अइया चउरे लेबै ना' अर्थात् हे अइया, (माई), तुम्हारी बारी में जो भूजूँगी उसकी भुजवाई चावल लूँगी—इस हठ में, उसकी चावल खाने की जो लालसा छिपी है

उसमें, उसकी निर्धनता का करुण-स्पन्दन भी वर्तमान है । 'बिरहा' अहीर जाति का विशेष गीत है । इन गीतों में भी इस प्रकार के अनेक संदर्भ हैं—

भुखिया के मारे बिरहा बिसरि गा भूलि गईं कजरी-कबीर,
देखि-देखि गोरिया क सुघर सुरतिया कि उठै न करेजवा मा पीर ।

'भूख के मारे, 'प्रेम की पीर' उठती ही नहीं' इस एक कथन में ही भूख के सामने, प्रेम के वायवी चित्र, अपने-आप धुंधले पड़ जाते हैं ।

कोल, एक मजदूर जाति है । गेहूँ-चावल आदि उनके लिए अलभ्य है, इनकी भोजन की तालिका में ज़ौ, सांवा, मेझरी (पहाड़ों पर उगने वाला एक अन्न) के साथ कोदौ भी है । कोल, कोदई (कोदौ का चावल) कूट रहा है, भूखी कोलिन के चेहरे पर मुस्कान दौड़ जाती है—

'कोल कांड़ै कोदइया कोलिन मुस्काय ।'

ग़रीबी में जो अभाव बना रहता है, उसको भी कथ्य के रूप में, अनेक गीतों में प्रस्तुत किया गया है । रिक्शाचालक की पत्नी को रिक्शा की कमाई पर दुःख है—'गुइयाँ आगि लागै रिकसा की चलाई में, अइसनी कमाई में ना ।' यह नया गीत है । इसी प्रकार के अन्य गीत भी हैं जिनमें 'झुलनी' के बिक जाने का दुःख है—'गई बिकाय पिया हमरी झुलनिया ना', या इस बात की शिकायत है कि उसे कलाई भर चूड़ी पहनना भी नसीब नहीं हुआ—

हे सैय्याँ तेरे राज में,
कबौ न पहिरी चूड़िया कलैया भर-भर के ।

जीविका के लिए देश-परदेश जाने की अपनी अलग व्यथा है । रेलगाड़ी आदि साधनों के कारण, रोजी-रोटी की तलाश में, अपने परिवार को छोड़कर जाना ही पड़ता है । ऐसे में, पति का अपनी पत्नी से, अज्ञात समय के लिए, अलग होना प्रणय के साथ विप्रलंभ की अनेक स्थितियों को जन्म दे सकता है । एक 'पूरबी' गीत है जिसे प्रकाश में लाने का श्रेय पं० रामनरेश त्रिपाठी को है । इस गीत में प्रेम की जितनी तन्मयता है उतनी ही सम्भावित बिछोह की पीड़ा भी है—

भुखिया न लागै पियसिया ना लागै
हमके मोहियै लागै हो,
देखिकै तोहरी सुरतिया, हमके मोहियै लागै हो ।
सेर भर गोहुंवा बरिस दिन खाबै,
पिय के जाइ न देबै हो
रखवै आंखिया के हुजुरवा पिय के जाइ न देबै हो ।

इस गीत में, भूख-प्यास की परवाह न करके, प्रियतम को आँखों के सामने रखने और उनके प्रेम में डूब जाने की जो लालसा है वह लोक-गीतों में ही नहीं काव्य साहित्य में भी बेजोड़ है।

●

रामचन्द्र सरोज

जन्मतिथि- १२ अगस्त, १९२७, इलाहाबाद जनपद के दक्षिणांचल में स्थित, ग्राम-पियरी, आजीविका-अध्यापन, सम्प्रति— सेवा-निवृत्त, स्वतंत्र लेखन।

सन् १९६० से पत्र-पत्रिकाओं में लेखन का क्रम बना रहा। एक दर्जन से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। सन् १९८९ के बाद की प्रमुख प्रकाशित पुस्तकों के नाम हैं—'उल्टा टँगा हुआ प्रजातंत्र' (व्यंग्य कविताएं-१९८९), 'सुरंग में गुज़रता जुलूस' (नयी कविताएं-१९८९), 'धुन्ध में डूबी किरन' (गीत और ग़ज़ल-१९९०), 'सच-सच बताऊँ उस्ताद' (व्यंग्य प्रधान कहानियाँ, लेख तथा एकांकी-१९९०), 'संस्कृत नाट्यशिल्प और रंगमंच' (शोधपूर्ण पुस्तक-१९९२), 'आर्ष-चिन्तन के विकल्प' (सांस्कृतिक लेख-२००१), 'धूप की चिट्ठियाँ' (निबन्ध-संग्रह २००१)।

'भारतीय नाट्य कला', 'हिन्दी नाट्यशिल्प और रंगमंच', 'वे दिन, वे लोग' (साहित्यिक संस्मरण) 'आइए, अन्दर चलें' (व्यंग्य) तथा 'सुतनुका नाम देवदासी' (कहानी-संग्रह) शीघ्र प्रकाश्य।

प्रकाशन के अगले क्रम की पुस्तकें हैं— 'हिन्दू वर्ण व्यवस्था—एक सांस्कृतिक परिक्रमा' 'ईश्वरनामा' (कविताएं) तथा 'अभिनय'।

सहस्राब्दी विश्व हिन्दी सम्मेलन, नई दिल्ली—२००० में 'राष्ट्रीय हिन्दी सेवी सहस्राब्दी सम्मान'।

भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के तथ्यपरक अन्वेषण में रुचि, हिन्दी साहित्य के अध्येता तथा लेखक।

संपर्क— रामचन्द्र (श्रीवास्तव) सरोज, निशांत, ए-५१,
मेहदौरी कालोनी, इलाहाबाद-२११००४।
दूरभाष : ५४५३४३